# रामायण का मर्म

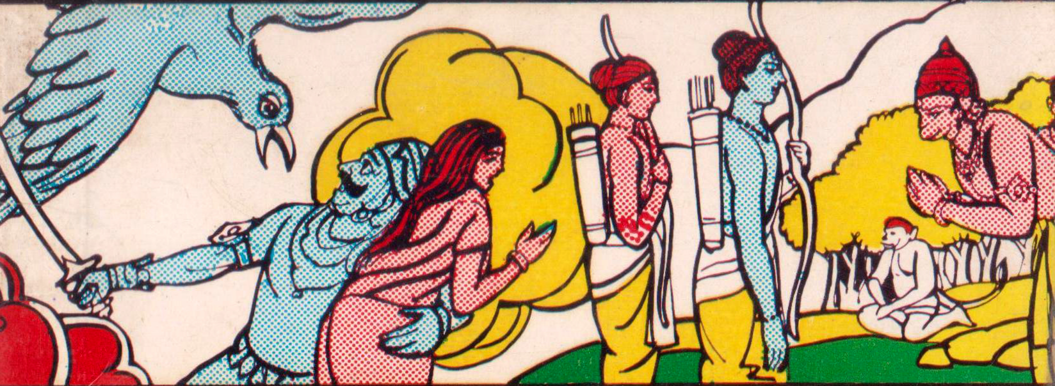

मनुभाई पंचोळी 'दर्शक'

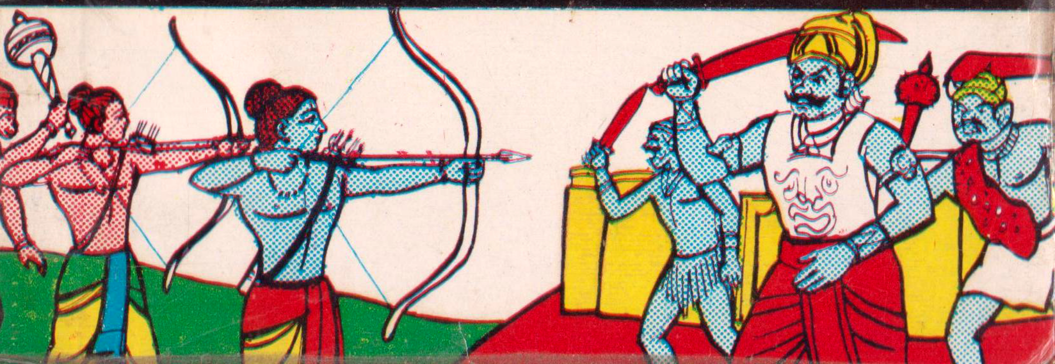

# रामायण का मर्म

श्री हिम्मतभाई पारीख स्मृति सद्भाव न्यास
कोट गेट, बीकानेर-334 001

# रामायण का मर्म

मनुभाई पंचोळी 'दर्शक'

अनुवाद

रामनरेश सोनी

© मनुभाई पंचोळी 'दर्शक'

प्रकाशक

श्री हिम्मतभाई पारीख स्मृति सद्भाव न्यास

कोट गेट बीकानेर-334 001

वर्ष : 1991

मूल्य : चिंतन मनन

आवरण : अनंत कुशवाहा

मुद्रक :

सांखला प्रिण्टर्स

सुगन निवास, चन्दन सागर

बीकानेर

# समर्पण

जिनको गुजराती भाषा के श्रेष्ठ साहित्यकारों, शिक्षाविदों और तत्वचिंतकों के विचारों और साहित्य को जन-जन तक पहुंचाने में आनन्द मिलता था और जो स्वयं गुजरात के संतों, शिक्षकों और महापुरुषों के साहित्य एवं शिक्षण से संस्कारित होकर मानव-सेवा की दिशा में प्रवृत्त हुए थे, ऐसे उत्साही, क्रियाशील चेतना पुरुष स्व. हिम्मत भाई पारीख की पावन-स्मृति को नमन करते हुए गुजराती के यशस्वी साहित्यकार एवं पारदर्शी विचारक श्री मनुभाई पंचोळी 'दर्शक' की यह कृति विचारशील पाठकों के हाथों में सौंपते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है ।

**दिलीप भाई पारीख**
**रमेश भाई पारीख**
**तथा समस्त न्यासी**

रामायण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने एक पारिवारिक कथा को अत्यन्त महान रूप में प्रस्तुत किया है।

रामायण की महिमा राम-रावण के युद्ध पर अवलम्बित नहीं है। युद्ध की वह घटना तो राम और सीता के दाम्पत्य की उज्ज्वलता को प्रदर्शित करने की एक निमित्त मात्र है। पिता के प्रति पुत्र की आज्ञा-कारिता, भाई के प्रति भाई का आत्मत्याग, पति-पत्नी के मध्य अन्योन्य निष्ठा तथा प्रजा के प्रति राजा का कर्त्तव्य किस हद तक जा सकते हैं, यह सब रामायण में दिखाया गया है।

रामायण गृहस्थाश्रम का काव्य है। इसी गृहस्थाश्रम धर्म को रामायण ने प्रतिकूल अवस्था में बनवास के कष्टों में डाल कर विशेष गौरव प्रदान किया है। कैकेयी-मन्थरा के छल-षड़यंत्र के कर्कश आघातों से अयोध्या के राज-परिवार को विच्छिन्न कर डालने के बावजूद रामायण ने गृहस्थ-धर्म की दुर्भेद्य दृढ़ता का चारों ओर उद्घोष किया है। शान्त-रस से परिप्लावित गृहस्थ-धर्म को रामायण ने करुणा के अश्रुजल से अभिषिक्त करके उसे महान शौर्य के स्तर से ऊपर प्रतिष्ठापित किया है।

**—रवीन्द्रनाथ टैगोर**

# लेखक परिचय

'रामायण का मर्म' नामक इस पुस्तिका के लेखक श्री मनुभाई पंचोळी 'दर्शक' गुजराती भाषा के विख्यात साहित्यकार तथा ओजस्वी विचारक हैं। आप शिक्षक हैं, शिक्षाविद् हैं, प्रबुद्ध समाज सेवी हैं। आपने चालीस से अधिक पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें इतिहास, शिक्षा, सामाजिक तत्वज्ञान, आलोचना, जीवनी, आत्मकथा, यात्रा वर्णन आदि के साथ-साथ बीसों उपन्यास व नाटक सम्मिलित हैं।

अभी चार वर्ष पूर्व भारतीय ज्ञानपीठ ने आपकी एक महाकाव्यात्मक औपन्यासिक कृति 'झेर तो पीधां छे जाणी-जाणी' पर मूर्तिदेवी पुरस्कार प्रदान किया था।

सन् 1914 में सौराष्ट्र में जन्मे श्री मनुभाई की औपचारिक शिक्षा नवीं कक्षा से आगे नहीं बढ़ पाई। सन् 30 में आप महात्मा गांधी के नमक-सत्याग्रह में कूद पड़े और राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के सैनिक बने। सन् 32 से 42 के मध्य चार बार आपको जेल जाना पड़ा। जेल जीवन आपके व्यक्तित्व निर्माण तथा स्वाध्याय के लिए एक खुली किताब बन गया। वहां आपने आत्मचिंतन के द्वारा मानव-सम्बन्धों के तानों-बानों, इतिहास और राजनीति के अन्तर्सम्बन्धों, दर्शन और संस्कृति के परिमाणों, शिक्षण और नवजीवन के सूत्रों का ज्ञान प्राप्त किया। साधना और प्रत्यक्ष अनुभव के बल पर आप शिक्षण तथा लोकजीवन की रचनात्मक प्रवृत्तियों की ओर तन्मयतापूर्वक सक्रिय हुए तथा साथ ही उपन्यास, नाटक, समालोचना, निबंध, प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति के अनुशीलन पर कलम उठाई।

आपको महात्मा गांधी, नानाभाई भट्ट तथा गिजुभाई बधेका जैसी विभूतियों का सामीप्य-लाभ मिला और उनकी प्रेरणा से शिक्षण एवं समाज-सेवा की दिशा में आपकी प्रवृत्तियां गतिशील हुईं। प्रारम्भ में आप भावनगर की दक्षिणामूर्ति संस्था के गृहपति बने, बाद में नानाभाई भट्ट द्वारा स्थापित लोकभारती संस्था से जुड़ गए। तब से आज तक आप लोकभारती संस्था से सम्बद्ध हैं। आपकी ही मेधा और लगन

के बल पर आज सणोसरा की लोकभारती संस्था ग्राम विद्यापीठ की ऊंचाई तक पहुंची है। आप इस संस्था के नियामक हैं तथा इसके माध्यम से गुजरात के विद्यार्थियों की तेजस्वी पीढ़ी के निर्माण में लगे हैं। शिक्षा जगत में इस संस्था का अवदान शांतिनिकेतन अथवा श्रीनिकेतन से कम नहीं है।

अपनी योग्यता के बल पर श्री मनुभाई ने जहां सार्वजनिक जीवन में सम्माननीय पद पाया, गुजरात के शिक्षा मंत्री के पद तक पहुंचे, वहीं साहित्यसृजन में सर्वोच्च शिखर पर पहुंचे हैं। ऐतिहासिक समझ और साहित्यिक विकास का आप में अद्‌भुत समन्वय है। आपकी एक आंख है इतिहास और दूसरी है करुणा। यों तो आपने विश्व इतिहास का गहन अध्ययन किया है तथा देश-देशांतरों के विश्व-विद्यालयों में वहां के इतिहासकारों के बीच बहुत बैठे हैं, तथापि ग्रीस के इतिहास का आपका अध्ययन तलस्पर्शी कहा जा सकता है।

आपके उपन्यासों में तीन खंडों में लिखा—झेर तो पीधां छे जाणी 'जाणी' तो सर्वश्रेष्ठ है ही, 'सोक्रेटीज' भी एक प्रौढ़ कृति है। आलोचकों के अनुसार 'दीपनिर्वाण' उपन्यास में गद्य की अत्यन्त सरस एवं उत्कृष्ट बानगी है। आपकी अन्य पठनीय कृतियों में 'महाभारत का मर्म', 'आपणो वैभव आने वारसो', 'चेतोविस्तारनी यात्रा', 'वागीश्वरीना कर्णफूलो', आत्मकथा 'सद्‌भिः संगः', नाटक 'परित्राण' और 'अंतिम अध्याय' सम्मिलित हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में आपने 'रामायण' और 'रामचरितमानस' पर जो दो व्याख्यान दिये हैं, इनमें विवेचक के साथ आपका इतिहासकार भी मौजूद है। दोनों महाकाव्यों के रचनात्मक सौंदर्य का आस्वादन कराने के साथ-साथ आपने आर्य-संस्कृति और राक्षस संस्कृति के मध्य संघर्ष की जिस ऐतिहासिक दृष्टि को रेखांकित किया है, जो मननीय है। यहां से हमें रामायण के आस्वादन की एक नूतन दृष्टि प्राप्त होती है।

□

## भूमिका

# रामायण की मर्म-ध्वनि

गुजराती भाषा के कवि एवं मनीषी श्री मकरंद दवे हमारी पुराण-कथाओं को प्रागैतिहासिक (प्री-हिस्टोरिक) मानने की बजाय परा-ऐतिहासिक (पैरा-हिस्टोरिक) मानते हैं। रामायण और महाभारत हमारी पुराण-कथाएँ ही नहीं, महाकाव्य भी हैं। एक ऐसे ही परम उदात्त महाकाव्य का मर्म गुजरात के 'दर्शक' एवं मौलिक चिंतक श्री मनुभाई पंचोळी के द्वारा प्राप्त हुआ है। उनकी इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद भारतीय जनमानस को उपलब्ध हो रहा है, यह अतीव आनंद का विषय है।

'रामायण का मर्म' नामक पुस्तक में श्री मनुभाई हमारे समक्ष रामायण का निरूपण करके ही रुक नहीं गए अपितु एक इतिहासवेत्ता के बतौर हमारे कान उमेठते हुए उन्होंने हमारी दुर्बलताओं की तरफ भी ध्यान आकृष्ट किया है। अपनी पारदर्शी दृष्टि से देशवासियों के पतन के कारण खोज कर उन्होंने हमारी नजरों के सामने प्रस्तुत किये हैं। फलतः इस पुस्तक की मूल्यवत्ता द्विगुणित हो गई है। रामकथा के साथ-साथ इस पुस्तक से हमें अपने प्राचीन विरसे और वैभव का अवलोकन करने की नई दृष्टि भी प्राप्त होती है।

रामायण देशवासियों की नस-नस में समा चुकी है। आज भी गांवों में दो बैलो की किसी सुन्दर जोड़ी को देखकर कोई किसान एकाएक यह कहता सुनाई पड़ेगा 'वाह, कैसी सुन्दर राम-लक्ष्मण की जोड़ी है।' इसी भांति उत्तम रीति से चलने वाले किसी राज्य-शासन को देखकर उसे 'रामराज्य' की संज्ञा देते भी सुना जाता है। गांव की स्त्रियां किसी योगी पुरुष को देखकर सहसा कह उठती हैं कि ये श्रीमान तो 'लक्ष्मण जती के अवतार' हैं। आज भी किसी लम्बी छलांग अथवा बड़े लक्ष्य की प्राप्ति के लिए 'हनुमान कूद' का प्रयोग किया जाता है। हमारे विनोबा भावे श्रेष्ठ शासकों का आदर्श देते हुए जनक-विदेही का दृष्टान्त देते थे और कहते थे कि भरतजी नंदिग्राम में रहते हुए भी अयोध्या का राज्य-शासन कुशलतापूर्वक चलाया करते थे। मैं स्वयं रामायण के एक पात्र जटायु को मानव-सभ्यता का 'प्रथम सत्याग्रही' मानता हूँ। हमारा आज का समाज जैसी राजकीय और सामाजिक पीड़ाएं भोग रहा है उसके मूल में मैं जटायु-वृत्ति के लुप्त हो जाने की प्रवृत्ति को उत्तरदायी मानता हूं। जटायु वृत्ति अर्थात् अन्याय का प्रतिरोध करने की हमारी वृत्ति। महात्मा गांधी के

देहावसान के बाद इस देश में जटायु-वृत्ति का अत्यन्त अभाव हो गया है, परिणामतः गुंडागर्दी को खुलकर खेलने का पर्याप्त अवसर मिल गया है। रामराज्य में प्रजा सुखी थी, इस बात का रहस्य गोस्वामी तुलसीदास ने अत्यंत मार्मिक रीति से यों व्यक्त किया है :

बैर न करहिं काहु सम कोई।
राम प्रताप विषमता खोई।।

रामायण का मर्म यह है कि लंका में भी कोई विभीषण मिल सकता है तथा राम की अयोध्या में भी मंथरा अथवा धोबी हो सकते हैं। वस्तुतः शुभ के साम्राज्य में अशुभ का अंश होता ही है और अशुभ के रेगिस्तान में भी शुभ के नखलिस्तान मिल जाते हैं। यह है मानव-समाज की वास्तविकता। रामायण हमारी दैनंदिन गृहस्थ-जीवन की ऊर्ध्वमूल सद्वृत्तियों के जागरण की भव्य यशोगाथा है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस महाकाव्य के माध्यम से एक 'ओपन युनिवर्सिटी' का उद्घाटन किया है। ज्ञान को ब्राह्मणत्व की कैद से मुक्त करके जन सामान्य तक पहुंचाने का यह प्रयास मानव इतिहास में अद्वितीय है। इसीलिए मैं प्रातःस्मरणीय तुलसीदासजी को 'लोकाभिमुखी संत शिरोमणि' कहता हूं। भारत भूमि पर उनके अनंत उपकार हैं, जिनका श्री मनुभाई पंचोळी ने अत्यंत सुन्दर रीति से पुण्य-स्मरण कराया है। श्री मनुभाई गुजरात के ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारत के प्रज्ञापुरुष हैं। इनकी विचारधारा मौलिक है, दृष्टि कालबेधी है तथा प्रस्तुति सरल है— मृदु-मधुर, आत्मीय शैली से ओत-प्रोत।

हमारे एक प्राचीन वेद मंत्र में कल्याणकारी भद्र-शक्तियों का तथा दुरित-शक्तियों का उल्लेख करते हुए परमेश्वर से प्रार्थना की गई है :

ॐ विश्वानिदेव सवितुर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तं न आसुव।।

रामायण एक ऐसे ही सनातन मानवीय सत्य का प्रतिपादन करने वाला महाकाव्य है कि दुरित-शक्तियों के सामने अंत में भद्र-शक्तियों की ही जीत होती है। श्री मनुभाई ने अपनी मौलिक व्याख्या के द्वारा इस महाकाव्य को एक नया आयाम दिया है। मेरा विश्वास है कि पाठक वर्ग को लेखक का यह नया अभिगम प्रतीतिकर लगेगा। पुस्तक का हिन्दी अनुवाद करके वृहद् पाठकों तक पहुंचाने का कार्य सम्पन्न करने वाले व्यक्ति का भी मैं हार्दिक अभिनंदन करता हूँ। श्री दिलीप भाई पारीख के मन में इस पुण्य-विचार का उदय होना कि गुजराती के श्रेष्ठ साहित्य को अन्य भाषाभाषी विचारशील पाठकों तक पहुंचाया जाए, सचमुच अभिनंदनीय एवं अनुकरणीय है।

टहूको, 139 विनायक सोसाइटी —गुणवंत शाह
जे. पी. रोड, वडोदरा 310 020

# रामायण

हमारे देश में सांस्कृतिक एकता स्थापित करने में सबसे बड़ा योगदान हमारे महान गौरव ग्रंथ रामायण का है। आर्षद्रष्टा ऋषि जब किसी ग्रंथ का प्रणयन करते हैं तो उनकी वाणी दिक्-काल को किस तरह एक कर देती है, इसकी पहचान रामायण और महाभारत से मिलती है। भारतीय जनमानस पर पड़े इन दोनों ग्रंथों के प्रभाव को यदि अलग करके देखें तो शेष बचता ही क्या है !

जो लोग रामायण-महाभारत को नहीं जानते वे भारतीय संस्कृति के बारे में कुछ भी नहीं जानते। करोड़ों भारतीयों को इन्हीं ग्रंथों ने प्रेम-सूत्र में बांधा है। राम, सीता, भरत, लक्ष्मण, हनुमान, विभीषण, कृष्ण, अर्जुन, भीम के नाम हमारे समाज के प्रत्येक घर में मित्रों से भी अधिक सजीव बन चुके हैं।

**'दर्शक'**

# वाल्मीकि रामायण

राम मंदिर के उद्‌घाटन के अवसर पर हम सब अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने यहां एकत्रित हुए हैं। लल्लूभाई ने अनेकानेक अच्छे कार्य किये हैं, और वे आगे भी करेंगे। लेकिन इस देश में मंदिर बनवाने जैसे और उसकी एक विशिष्ट प्रणाली को जारी रखने जैसे कार्य बहुत कम हुए हैं। प्रश्न उठता है कि गांव में मंदिर की आखिर ज़रूरत क्या है? इसके उत्तर में मैं कहना चाहूंगा कि मंदिर वह है, जो मन को दिशा दे, यानी मन को जिधर जाना चाहिए, उस दिशा की तरफ जो इंगित करे, वह है मंदिर! और उसकी मात्र अभी ही नहीं, हर समय, हर काल में ज़रूरत रहती है; क्योंकि मनुष्य गिरता है, उठता है, फिर गिरता है, फिर उठता है—यह क्रम जीवन में चलता ही रहता है।

उपनिषदों ने अत्यंत मार्मिक रीति से कहा है कि प्रत्येक मनुष्य के पास श्रेय व प्रेय नित्य-प्रति आकर खड़े हो जाते हैं। ऐसे में धैर्यवान मनुष्य अपने विवेक से श्रेय का चयन करते हैं, लेकिन मंदबुद्धि प्रेय के वशीभूत हो जाते हैं। प्रेय यानी जो प्रिय लगे और श्रेय यानी जो अंत में कल्याणकारी प्रमाणित हो। हम मंदबुद्धि वर्ग में आते हैं, अतएव हमारे मन को प्रेय की बजाय श्रेय का मार्ग बताने वाला कोई चाहिए। बस, गांव के बीच इसीलिए मंदिर स्थापित किया जाता है। मनुष्य स्वयं तो देवता बन नहीं पाता। हां, देवता बनने की संभावनाएं उसमें हैं अवश्य, लेकिन उनसे दानव बनना भी संभव है। ऐसा कभी नहीं होता कि कोई मनुष्य पूर्ण देवता बन कर पृथ्वी पर अवतरित हुआ हो। इसके लिए मनुष्य के अपने उद्देश्यपूर्ण पुरुषार्थ, अपनी समझ, अपने स्वभाव—इन समस्त परिबलों की जरूरत पड़ती है। देवत्व कभी आनुवंशिक नहीं होता।

किसी एक बादशाह का किस्सा है। किसी ने उसे कह दिया कि 'ये जो बच्चे जन्म लेते हैं, ये सीधे देवलोक से यहां आते हैं और इनके पास दैवी भाषा होती है। लेकिन दुनिया में आने के बाद ये उस भाषा को भूल जाते हैं। अतः आप ऐसा कुछ बंदोबस्त कर दीजिए कि कुछ बच्चों

को हम लोगों के सम्पर्क-संसर्ग में रहने का वातावरण न मिले। तभी ये [illegible] भाषा बोलते मिलेंगे। बादशाह ने फरमान जारी कर दिया कि इन बच्चों के कानों में इस दुनिया का एक भी लफ्ज न पड़े। बस, फिर क्या था। बालकों को एक अलग कमरे में रख दिया गया। खाने-पीने की चीजें ऊपर से डाली जातीं। इंसान की आवाज तक उनके पास नहीं पहुंचने दी गई। नतीजा यह निकला, कि जब दो-तीन वर्षों के बाद उन बच्चों को बाहर निकाला गया तो वे भेड़ियों और बकरों की तरह में-में-बें-बें करते थे और घुरघुराते थे।

मनुष्य स्वयं देव बन कर इस दुनिया में आया है, इससे अधिक भ्रांत धारणा शायद ही कोई और होगी। उसमें दैवी अंश है ज़रूर, लेकिन इस बात की कोई गारंटी नहीं कि उसमें से दैवी अंश ही प्रकट होंगे। यदि हम अपने धर्मग्रंथों को अच्छी तरह पढ़ कर देखें, तो यह बात साफ दिखाई देगी। दशावतार की कथा को ही ले लीजिए। हम मानते हैं कि भगवान के मुख्य दस अवतार हुए हैं। इनकी शुरुआत मत्स्यावतार से होती है : मत्स्यावतार, कच्छपावतार, वराहावतार, यों चलते-चलते नृसिंहावतार, वामनावतार, परशुरामावतार, रामावतार, और आगे चलने पर कृष्णावतार, तथा अंत में बुद्धावतार....यह सब क्या है ? वस्तुत: यह मनुष्य की देवत्त्व को दिशा में विकास की अद्भुत कल्पना है। जिन्होंने पुराणों की रचना की थी उन्होंने डार्विन को तो पढ़ा ही नहीं होगा, क्योंकि उस समय डार्विन का जन्म ही नहीं हुआ था। जबकि पुराणों की रचना ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में हुई थी। डार्विन जन्मा था ईस्वी सन् 1700-1800 के बीच। अत: पुराणकारों ने डार्विन से ज्ञान प्राप्त किया होगा, यह तो संभव ही नहीं है। हां, इन लोगों की कल्पना ठीक वैसी ही है जैसी डार्विन ने की थी।

डार्विन ने कहा था कि विकास का क्रम अमीबा से शुरू होकर मनुष्य की उत्पत्ति की तरफ गतिशील रहा है। हम ही गलती में यह मान बैठे हैं कि मनुष्यों का ऊर्ध्वीकरण नहीं होता अपितु वह देवता बन कर ऊपर से नीचे आता है। जबकि वस्तुत: उसका अवतरण नहीं, ऊर्ध्वीकरण होता है। पुरुषार्थ, विवेक, सत्संग आदि को बदौलत मनुष्य ऊपर उठता जाता है—पशु से देवता बनने के लिए।

हाल ही में ब्रोनेव्स्की ने एक शानदार पुस्तक लिखी है—'एसेंट ऑफ मेन।' इस पर फिल्म भी बन चुकी है। बड़ी ही अद्भुत पुस्तक है।

पर जानते हैं, पुस्तक पर सार रूप में क्या लिखा है ? लिखा है—'द मैन इज हायर देन द एनिमल एंड लोअर देन द एंजिल।' अर्थात् मनुष्य क्या है ?—पशु की तुलना में निःसंदेह ऊंचा और देवदूत की तुलना में थोड़ा नीचा। अब तक का यही सारभूत तत्त्व है। आने वाले कल को वह देवदूत से भी ऊंचा हो जाएगा। लेकिन जो विकास अब तक हुआ है, वह कहां, किस मोड़ पर आकर ठहर गया है ?—'द मैन इज हायर देन द एनिमल एंड लोअर देन द एंजिल।' इस संबंध में हमारे पुराणों ने हमें काफी पहले ही बता दिया कि मनुष्य भले ही पहले मत्स्य के रूप में अवतरित हुआ हो, पर वह मत्स्य बनकर वहीं रुक नहीं गया। चलते रहो....चलते रहो....चरैवेति....चरैवेति....; क्योंकि यही तो परमात्मा तक पहुंचने की यात्रा है। क्या इस संभावना को हम बाहर लाने की कोशिश करते हैं कभी ?

यह बात याद रखने लायक है कि पुराणों ने दैत्यों और दानवों का पिता एक ही माना है। कश्यप और दिति की संतानें दैत्य। कश्यप और अदिति की संतानें आदित्य। दिति ने असमय शरीर-समागम की इच्छा व्यक्त की थी, जो असामाजिक व्यवहार था—परिणामतः दैत्यों का जन्म हुआ। मूलतः दोनों एक ही पिता की संतानें हैं। इस तरह लिखने में एक अपूर्व संकेत निहित है कि दोनों भाई हैं। दोनों के मूल में एक ही बीज रहा है। असामाजिकता अथवा असंयम की वृत्ति के परिणाम स्वरूप दैत्य भावना बाहर प्रकट हुई। पर दोनों के पिता एक ही हैं—एक ही बेल के दो तुंबे ! राम मंदिर के उद्घाटन के इस अवसर पर यह बात हमारे लिए स्मरण रखने योग्य है कि क्या हम लोगों ने आदित्य बनने की अनंत संभावनाओं वाले मनुष्य के शिक्षण की, संस्कार की, पुरुषार्थ की, उद्घाटन की भी कोई व्यवस्था की है या नहीं ? या हम लोग मत्स्यावतार के आगे संकीर्ण होकर, वराह या वामनावतार के आगे संकुचित होकर ही बैठे रह गए हैं ?

हममें से कई लोग कच्छपावतार में भी हैं। कछुआ 'एम्फीबायस एनिमल' होता है। एम्फीबायस यानी जो पानी में भी रह सके और जमीन पर भी रह सके। हमारे कई राजनेता एम्फीबायस एनिमल हैं। यानी क्षण भर में इस पानी वाली पार्टी में जाते हैं तो पल भर में उस जमीन वाली पार्टी में चले जाते हैं। यह भाग-दौड़ चल ही रही है। अब भी कच्छपावतार की अवस्था में बहुत सारे खड़े हैं। मंदिर का यह कर्त्तव्य है

कि इन लोगों को जिस दिशा में ले जाना हो, उस बात का स्मरण, पोषण, संवर्द्धन किया जाए। अगर मार्गदर्शन या प्रेरणा न दी जाए तो क्या होगा ? 'जन्मना जायते शूद्रः'। जन्म से कोई भी मनुष्य पंडित बन कर पैदा नहीं होता। 'जन्मना जायते शूद्रः'। जन्म से सब शूद्र होते हैं, शूद्र ही नहीं; 'जन्मना जायते जंतुः' शूद्र भी नहीं— जंतु। शूद्र कहने पर मनुष्य होने की बात तो स्वीकार करनी ही पड़ती है, लेकिन 'संस्काराद् द्विज उच्यते' ऐसा कहा गया है। इसके बजाय 'संस्काराद् विभु उच्यते' संस्कार से ईश्वर तक जा पहुंचे—ऐसी ऐसी अनंत संभावनाओं वाले हम सब ने उस जन्म लेने वाले को किस दशा में कहां ले जाकर डाला है, उससे कैसे रास्ता निकाला जाए, यह बात मंदिरों और ऐसी-ऐसी संस्थाओं को ही सोचनी चाहिए।

यह राम मंदिर है। दशावतार की लीला में रामावतार का क्या महत्त्व है ? यहां राम की प्राण-प्रतिष्ठा होगी, सीता-लक्ष्मण-हनुमान आदि की मूर्तियां स्थापित की जाएंगी। तो, जो रामावतार है, उसका क्या महत्त्व है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

दो रामायणें हमारे पास रही हैं। एक मूल वाल्मीकि की। हमारे आदि-कवि ने करुणा से प्रेरित होकर उसकी रचना की थी। यह बात सर्वविदित है कि जिस समय ऋषि वाल्मीकि तमसा नदी के तट पर विचरण कर रहे थे, उस समय एक व्याध ने परस्पर प्रेम में तल्लीन क्रौंच और क्रौंची पर बाण छोड़ा था। क्रौंच मारा गया, क्रौंची उसके विरह में चीखने-कलपने लगी। क्रौंची के विलाप याकि चीख-चीत्कार ने समस्त प्राणियों के साथ समान भाव से संवेदित इन ऋषि को प्रेरित किया कि शिकारी को छंदबद्ध वाणी में श्राप दे :

मा निषाद प्रतिष्ठामत्वमगमः शाश्वती शमा।
यद् क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

'हे व्याध ! तूने प्रेम-पाश में मग्न-मोहित इस पक्षी-युगल को छिन्न-भिन्न कर डाला, इसलिए तुझे जीवन में कभी प्रतिष्ठा न मिले। तेरी अपकीर्ति ही हो।'

यह शाप देते समय वाल्मीकि के मस्तिष्क में यह बात विद्यमान थी कि रावण के द्वारा राम और सीता का विछोह हुआ था। क्योंकि वे राम के समकालीन थे और सीता ने उनके आश्रम के आश्रय पाया था, सीता की शोकयुक्त व धीर क्षमामूर्ति उनके हृदय में कौंध उठी होगी। क्रौंची

के विलाप का अनुसंधान सीता के विरह-दग्ध अंतकरण में हुआ होगा। श्राप तो दिया ही जा चुका था। विश्व में अनुष्टुप् छंद का जन्म हुआ था। आदिकाव्य का बीजारोपण हुआ था। गौर करने की बात यह है कि श्राप पहले निकला, काव्य बाद में। कर्म पहले, काव्य पीछे। नारद ने उन्हें इसी छंद में मानव रूपी क्रौंच-क्रौंची को बेधने वाले रावण की कथा गाने की अनुज्ञा प्रदान की।

इस प्रकार 'रामायण' काव्य के सर्जक वाल्मीकि रामचन्द्र के समकालीन थे, यानी जब रामचन्द्र थे, तभी वाल्मीकि थे—जिस तरह से जब व्यासजी थे, तभी कौरव-पांडव थे। हमारे ये दोनों महाकाव्य—रामायण और महाभारत कई अर्थों में फर्स्ट-हैंड रिपोर्टिंग हैं। तीसरे के कान से सुनी-सुनाई बातें नहीं हैं। जिस तरह व्यास बार-बार कौरवों की सभा में जाते हैं और उनको समझाते हैं, उसी तरह वाल्मीकि भी रामचन्द्रजी की राजसभा में जाते हैं और कहते हैं: 'यह सीता है। आपने इसे वन में भेजा था। पर सीता तो गंगा के सदृश निर्मल है।' इस तरह वाल्मीकि ने व्यक्त किया है कि मैं राम का समकालीन हूँ, मैं आपको आँखों देखी बातें ही बता रहा हूँ। मैं थर्ड-हैंड रिपोर्टिंग नहीं कर रहा। यह आधार वाल्मीकि रामायण की एक विशेषता है। प्रारंभ के अध्याय में ही तप-स्वाध्याय-निरत वाल्मीकि नारदजी से नर की कथा सुनाने का आग्रह करते हैं और सदाप्रवासी नारदजी से पूछते हैं कि 'ऐसा उदार, धर्मप्राण, धीर पुरुष क्या उनकी जानकारी में है?' नर शब्द प्रारंभ के अध्याय में दो बार आता है। कवि को लोकोत्तर बनने के लिए संघर्ष करने वाले किसी मानव के सुख-दुख की, धर्माधर्म के सागर-मंथन की कथा कहनी है। कवि ने नारदजी से यह जिज्ञासा भी व्यक्त की है कि ऐसा व्यक्ति समसामयिक होना चाहिए—भूतकाल का या कल्पना द्वारा गढ़ा हुआ नहीं, अपितु वर्तमान में प्रत्यक्ष। दूसरे ही श्लोक में समसामयिक शब्द का प्रयोग करके आदि-कवि ने अपने मन का यह विचार स्पष्ट कर दिया, कि स्वर्ग के देवताओं में उनकी रुचि नहीं है। उन्हें तो धरती की उपाधियां और क्लेश सहन करने के बाद अंत में देवत्व तक पहुँचे हुए नर की कथा का गान करना है।

रामायण भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में हर काल में पढ़ी जाती रही है और पढ़ी जाती रहेगी। इसका मुख्य कारण यही है कि वाल्मीकि ने अपने काव्य के नायक को प्रारंभ से ही मनुष्य कहा है। तभी तो हम

सब मनुष्य राम का बार-बार स्मरण करते हैं। जो कभी दुखों से पीड़ित नहीं हुआ या जो पीड़ित नहीं होता, जिसने अपने प्रियजन का वियोग या वत्सल मित्र का संयोग अनुभव नहीं किया; पिता का विह्वल स्नेह, आज्ञाकारी भाई का स्नेह, विपत्ति में भी सुख का अनुभव करने वाली अर्द्धांगिनी, भोले-अनपढ़ लोगों की भक्ति, विमाता की दाहक ईर्ष्या—ये सब प्रसंग जिसके भाग्य में नहीं आए—जिसने मात्र अमृत पी-पीकर अप्सराओं का नृत्य ही सदैव देखा हो, क्या ऐसे देवताओं की कथा गाने के योग्य होती है ? जहां प्रतिकूल घटनाएं ही नहीं घटतीं, वहां कथा कैसी ? और विपरीत परिस्थितियां आने पर जो उनके वशीभूत होकर रोने लगें या लाचार होकर पड़े रहें, तो ऐसे स्त्री-पुरुषों की बात कहने में महाकाव्य रचने जैसी प्रेरणा कहां होती है ?

आदिकवि ने एक मनुष्य की कथा कही है, पर ऐसे मनुष्य की, कि जो दु:खों से हार नहीं जाता, जो वनवास को भी अपनी सुवास फैलाने का माध्यम बनाना जानता है।

कालांतर में राम को भगवान बना कर तुलसीदासजी ने या अन्य कवियों ने लोक-संग्रह भले ही किया हो, पर आदिकवि के साथ न्याय नहीं किया। हमारे पुराणकारों ने भी रामावतार के मानव-विकास संबंधी चरण को पूर्णावतार नहीं, अंशावतार इसलिए कहा है कि वह सर्वोत्तम शिखर नहीं है, वह तो अभी आना शेष है। इसीलिए रामचन्द्र सीता के विरह में ऐसे फूट-फूट कर रोते हैं कि जिससे पत्थर तक पिघल जाए। यही सब हम करते हैं। लक्ष्मण की मूर्छा के समय भी वे फूट-फूट कर रोने लगते हैं। दूसरे लोगों को उन्हें ढाढ़स बंधाना पड़ता है। यही नहीं, अयोध्या छोड़ने के बाद गुरु के यहाँ रात के समय राम के द्वारा लक्ष्मण के समक्ष स्त्री-आसक्त पिता की थोड़ी बहुत निंदा हो जाती है। सिंहासन पर बैठने के समय उन्हें जो वनवास मिला था, उसे तो उन्होंने स्वस्थ भाव से बिना कोई उद्वेग व्यक्त किये पिता के वचनपालन के निमित्त स्वीकार कर लिया था, पर उनके मन के किसी कोने में पिता की यह दुर्बलता चुभ गई थी और उस रात वन के एकांत में अपने ही हृदयतुल्य भाई लक्ष्मण के सामने व्यक्त हो गई थी।

'लक्ष्मण ! आज हमारे पिता दशरथ दु:खी अवस्था में लेटे पड़े होंगे और कैकेई खुश होगी। मुझे यह भय सता रहा है कि कैकेई ननिहाल से आए अपने पुत्र भरत को देख, उसका राज्याभिषेक करके स्वतंत्र

बनने के लिए कहीं हमारे पिता को तो प्राणों से वंचित नहीं कर देंगी ? अरे, मेरे वियोग में अनाथ बने और कामात्मा होने के कारण कैकेई के वशीभूत बने हमारे पिता कुछ करने योग्य ही कहां हैं ? हे लक्ष्मण ! जिस तरह से हमारे पिता ने मुझे त्यागा है उस तरह दुनिया में ऐसा कौन मूर्ख पुरुष है जो स्त्री के लिए अपने आज्ञापालक पुत्र को त्याग देता है ?

मेरा तो दृढ़ निश्चय हो चला है कि इस संसार में धर्म और अर्थ दोनों पुरुषार्थों की बजाय तीसरा पुरुषार्थ काम कहीं अधिक बलवान है ।'

यही नहीं, उनको तो यह भी लगता है कि मौका पाते ही कहीं कैकेई कौशल्या व सुमित्रा को जहर देने में देर नहीं करेगी ।

इसीलिए वे कहते हैं : 'आज की रात बीत जाए तो कल तू वापस अयोध्या चला जा । भैया ! तू वहां होगा तो हमारी अनाथ माता कौशल्या और सुमित्रा की रक्षा कर सकेगा । सीता का वनवास वरदानों की परिपूर्त्ति के लिए नहीं हुआ था, फिर भी उसके वस्त्राभूषण उतरवा कर वल्कल पहना कर भेजने की इच्छा व्यक्त करने वाली कैकेई के लिए ऐसा संदेह पैदा होना असाधारण बात नहीं है—पर हां, असाधारण है तो यह, कि इस पूरी व्यग्रता के बीच वे कहते हैं : 'मुझे क्रोध आ गया तो अयोध्या तो क्या, पूरी पृथ्वी को बाल की नोक पर वश में कर सकता हूँ पर आज वैसा कर पाना उचित नहीं । हमारे पिता की प्रतिज्ञा भंग होती है, इसी भय से मैंने अपना राज्याभिषेक स्वीकार नहीं किया था ।'

मनुष्य के चित्त को मथित कर डालने वाली यह दोलायमान दशा, उसमें से पैदा होते शंका-आशंका के भूत-प्रेत, उससे उपजती चिंता और इन सब के बावजूद इनका अतिक्रमण करके जो धर्म्य है, वह योग्य है, जो अत्यंत कष्टमय है, दुर्गम है, वह है उस कंटकाकीर्ण मार्ग की तरफ प्रयाण—वह है 'एसेंट ऑफ मैन' अर्थात् मनुष्य का आरोहण ।

भरत के प्रति ऐसी आशंका राम के मन में ठेठ चित्रकूट में भरत-मिलाप तक देखने में आती है, क्योंकि सीता को वन में साथ न चलकर अयोध्या में ही रहने की सलाह देते समय व्यवहारकुशल नीतिवान व्यक्ति की भांति वे कहते हैं :

'जब मैं वन में चला जाऊं तब भरत के सामने मेरी प्रशंसा कभी मत करना । ऐश्वर्यवान व्यक्ति दूसरों की प्रशंसा को सहन नहीं कर सकते, अतः भरत की मौजूदगी में मेरे गुणों का वर्णन मत करना ।'

मन के कोने में छिपी उनकी यह आशंका तभी दूर होती है जब भरत सिंहासन पर बैठने से इनकार कर देते हैं और राम के लौटने तक उनकी पादुकाएं सिर चढ़ा कर नंदिग्राम में रहते हुए एक अनुचर की तरह राज्य चलाने का संकल्प लेते हैं। इसीलिए रावणवध के पश्चात् उनकी प्रथम चिंता यह रहती है कि वे सही समय पर भरत के पास कैसे पहुँचें ?

मनुष्य, यानी एक ऐसा प्राणी कि जो लोगों से आदर और प्रशंसा सुनने की इच्छा रखे।

और देवता, यानी वे जो दूसरों की निंदा और स्तुति से प्रभावित न हों।

राम धर्मप्राण पुरुष अवश्य हैं। उनकी कामना है कि वे अपनी समझदारी के अनुरूप सदैव धर्म से जुड़े रहें। लोक में अपकीर्ति होना या लोकनिंदा उन्हें पसंद नहीं। वाल्मीकि ने लिखा है— 'जनापवादभयाद् बभूव हृदयं द्विधौ' यानी जनापवाद के भय से उनके हृदय में दुविधा पैदा हो गई।

इसीलिए तो सीता उनके लिए प्राणों से भी अधिक है, फिर भी रावण से अपहृत और उसके बंदीघर में निवास करने की वजह से उसे ग्रहण करने से पहले वे स्नेह और करुणा की उस मूर्ति को अग्निस्नान कराते हैं। करुणामयी मूर्ति के स्पर्श से भले ही अग्नि शीतल हो गई, भले ही वे स्वयं उल्लसित हुए, पर अशोक वाटिका में प्रतिपल उनका नाम जपने वाली, रावण को भी उसकी मर्यादा दर्शाने वाली, विरहिणी, शोकार्त्तदग्ध चंद्रमुखी को दौड़ कर अपने बाहों में भरने की उन्होंने हिम्मत नहीं की। उल्टे कहने लगे : 'रावण का वध मैंने अपनी कीर्ति बढ़ाने के लिए किया था। शत्रु के द्वारा किये गए अपमान से मुक्त होने की मेरी प्रतिज्ञा पूरी हुई। पर तू ऐसी है कि जिसके चरित्र को लेकर सबको संदेह है। नेत्र के रोगी को जिस तरह दीपक अच्छा नहीं लगता, उसी तरह मेरे पास खड़ी तू मुझे अच्छी नहीं लगती। तू यह मत समझ लेना कि युद्ध की यह मेहनत मैंने तेरे लिये की थी। मैंने तो अपने पर और अपने वंश पर लगे कलंक को मिटाने के लिए यह युद्ध किया था। अब तुम्हें जहां भी जाना हो, जा सकती हो। चारों दिशाएं तुम्हारे लिये खुली हैं। पराये के घर में रही स्त्री को कौन पुरुष कामवश वापस रख सकता है? मुझे तुमसे कोई मतलब नहीं...' और राम जाने क्या-क्या कह देते हैं।

'तेरी इच्छा हो तो लक्ष्मण के साथ रह, भरत के साथ रह, भले ही सुग्रीव या विभीषण के साथ रह। तेरे जैसी सुंदर और मनोरम स्त्री को देखकर रावण धीरज नहीं रख सकता।'

हमें लगेगा कि क्या रामचंद्र ऐसा कह सकते हैं? जिसके निमित्त उन्होंने वर्षा के आगमन के समय रोते-रोते प्रस्तर-शिलाओं तक को भिगो दिया था, क्या उसके लिए ऐसे हृदयबेधी वचन बोल सकते हैं?

पर कवि वह सब जानता है जिसे हम नहीं जानते, स्वयं राम तक नहीं जानते। उसे सच्चे भरत की, सच्चे राम की, सच्चे लक्ष्मण की, सच्चे दशरथ की खबर है। जितना हम स्वयं को नहीं जानते, उतना महाकवि हमें जानता है, तभी तो वह द्रष्टा कहलाता है।

रामचंद्र को लोकनिंदा का डर है और पुरुष होने का आंतरिक अभिमान है। ये बातें श्रीकृष्ण के साथ नहीं हैं। वे कुब्जा को सुन्दरी कह कर सुन्दरी बना सकते हैं। उसके वहां जा सकते हैं। वे यज्ञ को निरर्थक कह सकते हैं। वे इन्द्र की उपासना को चुनौती दे सकते हैं। इस अर्थ में रामचंद्र अवश्य मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं और कृष्ण पूर्ण-पुरुषोत्तम। रामचंद्र जी ने सीता का सत्कार किया होता तो हनुमान-लक्ष्मण-विभीषण आदि प्रसन्न ही हुए होते, क्योंकि हनुमान ने तो अशोकवाटिका छोड़ कर जाते समय सीता को अपने कंधे पर बिठा कर चले चलने के लिए कहा था—पर सीता ने ही कहा था, 'मुझे तो मेरे राम ही छुड़ायेंगे। रावण ने जब मेरा अपहरण किया था, उस समय तो मैं परवश थी। स्वेच्छा से मैं पर-पुरुष का स्पर्श नहीं करूंगी।'

मान लें कि किसी कोने में किसी ने खड़े-खड़े मुंह बिगाड़ा होता, जैसे धोबी के बारे में कहा जाता है—तो पृथ्वी कोई उलट तो नहीं जाती थी; पर राम मनुष्य हैं, इस कारण उन्हें अपवाद का भय है, जैसे हम सब को होता है। वाल्मीकि की सीता भी इस मर्यादा से परे नहीं है। जिस समय मारीच की बनावटी चीख-पुकार सुनकर भी लक्ष्मण सीता को अकेले छोड़ कर राम की सहायता के लिए जाने से इन्कार कर देते हैं, उस समय राम की चिंता से व्याकुल सीता जैसी नारी भी लक्ष्मण पर गलत आक्षेप लगा बैठती हैं। कहती हैं: 'अगर तुम यह समझते हो कि राम मर जाएंगे तो तुम मुझसे विवाह कर लोगे। इस भ्रांति में मत रहना। मैं तुम्हें मिलने वाली नहीं।'

किसी अपराध के बिना गले आ पड़ने वाले वनवास के कष्टों ने ही सीता के मन में ऐसा मानसिक तनाव पैदा किया होगा ! या फिर राम पर घिर आये संकट के डर से उनका मन काबू में नहीं रह सका होगा !

पर काव्य-न्याय इसी में है कि लक्ष्मण को कहे गए ऐसे अन्यायपूर्ण कठोर वचनों ने सीता को राम के मुंह से भी अधिक कठोर वचन सुनने की परिस्थिति में ला छोड़ा ।

पर मनुष्य त्रुटियां न करे और आगे चल कर उन्हें सुधारे नहीं तो और कौन करे ?

वाल्मीकि की प्रतिज्ञा ही मानव-चरित्र का वर्णन करना थी, न कि देव-चरित्र । तभी तो रामायण सुश्राव्य और सुपेय बनी है ।

कवि राम को अपना काव्यार्घ्य क्यों चढ़ाता है ? कहा जा सकता है कि उसका प्रयोजन यह बताना था कि स्वस्थ धार्मिक बल से मनुष्यों के द्वारा उन्मत्त-शक्ति का मुकाबला कैसे किया जा सकता है । एक तरफ रावण का उन्मत्त बल है और दूसरी तरफ उसका सामना कैसे किया जाए, इसकी अभी कोई व्यवस्था नहीं । रावण के सैनिक जनस्थान, यानी पंचवटी के समीप हैं । खर-दूषण के सेनापतित्व में बहुत-सी सेना वहां पड़ी है ।

उनका उपद्रव ठेठ चित्रकूट तक फैला हुआ था । जब राम चित्रकूट में कुछ समय तक रहे, तब एक दिन उन्हें जानकारी मिली कि चित्रकूट के ऋषिगण कहीं अन्यत्र जाने का मन बना रहे हैं, तो उन्होंने जाकर ऋषियों से ही जाने का कारण पूछा कि क्या बात है, लक्ष्मण या सीता से कोई त्रुटि हुई हो तो निस्संकोच बताने की कृपा करें । वृद्ध कुलपति ने संकोचपूर्वक कहा : 'नहीं, नहीं, यह आप क्या कहते हैं ? कल्याणमूर्ति वैदेही का तो दोष ही क्या हो सकता है ? लेकिन हे राम ! हाल ही में आप ही के कारण ऋषियों को राक्षसों का भय लगने लगा है, इसी से वे लोग अंदर ही अंदर कहीं अन्यत्र स्थानांतरित होने की बातें कर रहे हैं । तात ! जब से आप यहां आए हैं, तब से राक्षसगण यहां आकर तपस्वियों के साथ उपद्रव करते हैं, इनके साथ मारपीट कर जाते हैं । आपके लिए भी स्त्री के साथ इस निर्जन वन में रहना दुखदाई है ।'

पहले भी रावण के राक्षसों से रक्षा की मांग लेकर जब विश्वामित्र जी राम-लक्ष्मण को लेने अयोध्या गए थे, तब राजा दशरथ ने जो वचन

कहे थे ये भी रावण के भय से ग्रसित एक राजा के थे। उन्होंने कहा था : 'हे महात्मा ! युद्ध में उस रावण के पराक्रम को सहन करने में कोई देवता, गंधर्व, यक्ष समर्थ नहीं हो पाया, तब भला मानव की क्या गिनती ? मैं उसके साथ या उसकी सेना के किसी भी योद्धा के साथ युद्ध करने में समर्थ नहीं; तब देवताओं जैसे रूप वाले और संग्राम-विद्या से अनभिज्ञ अपने नन्हें पुत्र राम को मैं आपके साथ कैसे भेज सकता हूं ?'

रावण का भय ठेठ अयोध्या तक कैसे फैल गया था, इसका यह उदाहरण है। पर कवि किशोरावस्था के राम का जीवन-कर्त्तव्य क्या सोचते हैं, यह स्पष्ट करने के लिए ही विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा का काम उनसे कराते हैं।

पर संभव है कि रामचंद्रजी सीता से विवाह के बाद मारीच-ताड़का को भूल गए हों। राक्षसों की ताकत और संख्या में वृद्धि हो रही है, इसकी वास्तविकता का सही ज्ञान उन्हें न रहा हो।

पर कवि को तो है। इसलिए अयोध्या छोड़ते समय भले ही रामचंद्रजी ने प्रतिज्ञा ली हो कि वे चौदह वर्षों तक वानप्रस्थी की भांति रहेंगे, पर कवि उन्हें वानप्रस्थी रहने नहीं देता। चित्रकूट से भीरु ऋषियों को स्थानांतरित न होना पड़े, इसके लिए राम ने चित्रकूट छोड़ दिया, पर उन्हें मार्ग में सभी स्थानों पर इन उपद्रवों के ही समाचार सुनने को मिले।

अत्रि ने भी उन्हें बताया : 'हे राघव ! यह सम्पूर्ण वन क्षेत्र, जिसमें हम कंदमूल-फल लेते रहे हैं, चारों ओर से राक्षसों द्वारा घिरा है। वे हमें बहुधा सताते हैं। हे राम ! मनुष्यों का भक्षण करने वाले ये दुष्ट राक्षस इस वन में रहने वाले तपस्वियों का, यदि वे असावधान हों तो भक्षण कर जाते हैं। इसलिए हे राघव ! आप इन दुष्ट राक्षसों का विनाश करके इस वन को सुरक्षित बनाएं।'

दंडकारण्य के सघन वन-प्रदेश में प्रवेश करते ही उन्हें समझ में आ गया कि उनके लिए वानप्रस्थ धर्म का पालन कर पाना असंभव है। शस्त्रों का संन्यास संभव नहीं है—टक्कर अनिवार्य है। और शरभंग ऋषि के आश्रम में ऋषियों ने मारे गए ऋषियों की हड्डियां चारों ओर बिखरी हुई दिखाते हुए कहा था : 'राजा प्रजा से छठा हिस्सा लेता है और हम ऋषिगण अपने तप का चौथा भाग सौंपते हैं—वह इसलिए, कि

राजा प्रजा की और हमारी रक्षा करे। आप राजपुत्र भी हैं और राजा भी। आपका धर्म है कि इन नरमांसभक्षी राक्षसों के त्रास से हमें बचाएं।' कइयों ने कहा : 'हमने अपने तप की रक्षा के लिए क्रोध को जीतकर दंड का त्याग किया है, अत: आपका कर्त्तव्य है कि जिस प्रकार माता अपने गर्भ के बालक की रक्षा करती है, उसी प्रकार आप ऋषियों की रक्षा करें।'

रामचन्द्रजी ने तो सोचा था कि वन में पशु-पक्षी-वृक्षों-नदियों के बीच आनन्दपूर्वक प्राकृतिक जीवन जीयेंगे। पर उनके सामने यह तथ्य प्रत्यक्ष हो उठा कि उनके निमित्त नया धर्म-संकट उपस्थित हो गया है। वे बोले : 'वैसे तो मैं पिता के वचन-पालन के लिए वन में आया हूँ, पर लगता है देवताओं की इच्छा आप लोगों की समस्याओं का निवारण करने की है। आप विश्वास रखें आपको कष्ट पहुँचाने वाले राक्षसों से मैं युद्ध करूंगा और उनका विनाश करूंगा।' कवि ने हमारे सामने और रामचंद्रजी के सामने हर कदम पर नयी परिस्थिति पैदा की है।

स्वयं सीता को राम द्वारा ऐसी प्रतिज्ञा लेना पसंद नहीं। वे कहती हैं : 'आपने वानप्रस्थ धर्म स्वीकार किया है, और अब राक्षसों का वध करने की प्रतिज्ञा ले रहे हैं तो भला वह प्रतिज्ञा कहां रही ?'

अभी सीता के समक्ष यह स्पष्ट नहीं हुआ कि राक्षसों का वध करने का सवाल ही नहीं। पंचवटी में राक्षस इनके पास वध प्राप्त करने के लिए आने वाले हैं। पर रामचंद्रजी तो मृदु और स्पष्ट भाषा में कह देते है : 'ऋषि लोग मेरे पास अपने दु:खों से छुटकारा पाने की फरियाद लेकर आये हैं। किसी का आर्त्तनाद सुनकर उसकी रक्षा करने के लिए ही तो क्षत्रिय हथियार धारण करते हैं। इसलिए मैंने राक्षसों का संहार करने की प्रतिज्ञा की है। मैं लक्ष्मण का या स्वयं तुम्हारा भी त्याग कर सकता हूं, पर प्रतिज्ञा नहीं त्याग सकता।' यह काम करना कितना अनिवार्य था, यह बात, अगस्त्याश्रम में अगस्त्य ऋषि को भी इल्वल आदि राक्षसों को कैसे मारना पड़ा था, यह सब सुनकर उसे स्पष्ट हो गयी—अगस्त्य जैसे समर्थ ऋषि भी राक्षसों से सुरक्षित नहीं।

यह संघर्ष आर्य-संस्कारों और राक्षस-संस्कारों के बीच था, पर इन दोनों का सह-अस्तित्त्व रावण के अहंकारों और बलात्कारों ने असंभव बना रखा था, न कि हमेशा-हमेशा के लिए ऐसा आदान-प्रदान असंभव था, अन्यथा विभीषण के साथ मेलजोल ही संभव न हो पाता।

संस्कृति और विकृति के बीच का एक महत्त्वपूर्ण फर्क ही संवादाश्रय या बलाश्रय है। मति की भिन्नता तो रहेगी ही। किसी को भी किसी पर बल-प्रयोग का अधिकार नहीं है। एक श्लोक में कहा भी गया है :

विद्या विवादाय धनं मदाय
शक्तिः परेषां परपीड़नाय ।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत्
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ।।

निःसंदेह रावण महाबलवान था। उसने बड़े-बड़े देवताओं को वशीभूत कर रखा था। सम्पूर्ण विश्व में केन्द्रीय भूमिका उसी की रहे, उसी की आज्ञा का परिपालन किया जाए, सब उसी का अभिवादन करें– इस मदमत्तता का जबर्दस्त प्रतीक-दृष्टांत आदिकवि ने अद्भुत व्यंजनात्मक रीति से प्रस्तुत किया है।

राक्षसों के उपद्रवों की बातें और आर्य एवं राक्षसी संस्कृति के बीच ऐसी टकराहटें तो रामायण से पहले भी थीं। रावण ने उन्हें तीव्र किया था, इसी से जनता दुखी हो उठी। वाल्मीकि रामायण में ऐसा प्रसंग आता है कि रावण ने सभी देवी-देवताओं को अपने वश में कर रखा था। इन्द्र को वश में किया था, पवन, अग्नि, वरुण इन सबको वशीभूत कर रखा था। किसी ने उससे कहा कि : 'आप सबसे कर लेते हैं, पर इन ब्राह्मणों-ऋषियों से तो कर लेते भी नहीं। ऐसा क्यों ?' रावण बोला : 'वे भी मेरे राज्य में रहते हैं और मुझे कर तक नहीं देते ? यह कैसे हो सकता है ? शीघ्र जाओ और ऋषियों के आश्रमों में जाकर कहो कि उनको भी कर का भुगतान करना पड़ेगा।' सलाहकारों ने कहा : 'यह आसान बात नहीं हैं। ये सब ऋषि हैं। सनकी और सिर-फिरे लोग हैं।' अब तो ऐसी बात नहीं है। उस समय कुछ सनकी ऋषि थे। जब कर मांगने वालों ने आकर उनसे कर देने की बात कही, तो उन सबने एकत्रित होकर कहा कि कैसा अज्ञानी है यह रावण ! हमारे पास ऐसा है क्या, जो इसे कर दें ? वे कर वालों से कहने लगे : 'भैया, हम तो खुद अकिंचन लोग हैं। कंदमूल पर गुजारा करते हैं। और कुछ है नहीं देने को, क्या दें ? हमारे पास तो एक रोटी और दो लंगोटी है, भला क्या दें ? जाकर रावण से कह दो कि देने योग्य धन ही नहीं हैं। पैसे हों तो दें न !'

दूसरे ऋषि कहने लगे : 'वह उद्धत है । ऐसे नहीं समझेगा । हम उसे लहू दें । भले ही वह हमारा लहू ले ले ।' सबने अपनी छोटी उंगली काटी और लहू से घड़ा भर दिया । लहू का घड़ा भर कर उन्होंने रावण के दरबार में भेजा । बोले : 'यह लो तुम्हारा कर ।' रावण ने आवरण हटा कर देखा तो घड़ा खून से भरा था । वह चौंक उठा । दरबारियों से बोला : 'अरे, सत्यानाश हो गया । ऋषियों का लहू ? तुमने बहुत बुरा किया । रावण चौंक उठा । आखिर तो ब्राह्मण का बेटा था । ब्राह्मण का बेटा ब्राह्मण ही होता है ऐसा तो नहीं देखा । यह पुलस्त्य ऋषि का पुत्र । वह भी राक्षस हुआ ? प्रश्न मनोवृत्ति का है । उसने आज्ञा दी—'जाओ, इस घड़े को जमीन में गाड़ दो । पर हमारे राज्य में मत गाड़ना। नहीं तो कुछ उल्टा-पुल्टा हो जाएगा ।' नौकर राजा जनक के राज्य में जाकर किसी के खेत में उसे गाड़ आए ।

पर कहते हैं न—'गज कतरनी लेकर बैठे दरजी दीनदयाल, घटे-बढ़े को करे बराबर सब की लेय संभाल, धणी वह धीरों का, रे हरि मेरा झूला झूले ।' भगवान को कोई चकमा नहीं दे सकता ।

मिथ्याभिमानी या कि नास्तिक की एक व्याख्या यह है कि भगवान से ज्यादा समझदार मैं हूं—जो ऐसा कहे या माने, उसे नास्तिक कहते हैं । नास्तिक भी भगवान को मानते हैं, पर यों मानकर चलते हैं कि उनमें भगवान से ज्यादा ज्ञान है । ऐसा ही वे आचरण करते हैं । हिरण्यकशिपु भी भगवान को ऐसा ही मानता था । शैतान भी भगवान को मानता है पर स्वयं को अधिक ज्ञानी मानता है । रावण ने भी यही कहा, कि मैं सबसे बड़ा ज्ञानी ।....जाओ, घड़े को दूसरों के राज्य में गाड़ दो, ताकि आफत टले ।

एक दिन राजा जनक हल चला रहे थे । उस जमाने में राजा हल चलाने में शरम महसूस नहीं करते थे । जनक ऐसे ही राजा थे । हल हांकते-हांकते जमीन में से घड़ा निकला, और घड़े में थी कन्या । जनक ने उसका नाम रखा सीता । सीता यानी खेत में हल के फाल से जमीन में बनी रेखा—कूंडी । खेत की उस रेखा में से निकलने वाली—सीता । सीता रावण का नाश करने के लिए जन्मी थी । रावण ने अपने राज्य में घड़ा नहीं गड़वाया, बल्कि कौशल के पास विदेह में गड़वा कर उल्टे राम-सीता को एकत्र होने की अनुकूलता पैदा कर दी । सीता का हरण नहीं होता तो रावण का वध ही नहीं हुआ होता । और सीता भी जनक

के यहां न जन्मी होती तो राम से उनका विवाह भी न हुआ होता।....
'गज कतरनी लेकर बैठे दरजी दीनदयाल....।'

इस तरह कहना न होगा कि रामावतार का प्रयोजन एक उन्मत्त बल के समक्ष एक स्वस्थ शक्ति को जन्म देना था। स्वस्थ शक्ति यानी राम। उन्मत्त बल को रामायण में कैसे प्रस्तुत किया गया है ?

रावण उन्मत्त हो गया है। ऋषियों से वह कर मांगता है। कोई स्त्री सुरक्षित नहीं रह सकी। कुबेर उसका छोटा भाई। उसकी पत्नी तक सुरक्षित न रह सकी। उसके लिए कोई मर्यादा नहीं रही। उसकी बहन शूर्पणखा राम के यहां गई और उनको देखते ही मुग्ध हो गई। कहने लगी : 'रामचंद्र ! इस संसार में दो व्यक्ति ही सुंदर हैं—एक तू और एक मैं।' शूर्पणखा को अपनी सुंदरता अनन्य-अद्वितीय लगी थी, इससे उसकी बुद्धि कैसी बन गई होगी ? बोली—'हम दो ही सुन्दर हैं। पुरुषों में तू और स्त्रियों में मैं। बस !'

रामचंद्र ने कहा : 'मैं तो विवाहित हूं और मेरी पत्नी भी मेरे साथ है।' तब वह कहने लगी : 'तेरी पत्नी को मैं खा जाती हूं, टंटा ही खत्म। तब तू पत्नी-विहीन हो जाएगा और फिर मेरे साथ गृहस्थी बसा।' यह जो बुद्धि का विपर्यास है, इसी का नाम है राक्षसी-बुद्धि। ऐसी विपर्यासी बुद्धि का तूफान भारतवर्ष में ठेठ विंध्याचल तक फैला हुआ था। उसे किस तरह रोका जाए ?

वाल्मीकि हमें सूचित करते हैं कि जब राजकुमारों ने राजमहल छोड़ कर वन के दुर्बल लोगों के साथ मित्रता का सम्बन्ध बांधा था, तब भगवद्-शक्ति का अवतार हुआ था। जब महात्मा गांधी ने बेरिस्टरी छोड़ी और अफ्रीका में उनके जो बंधु दुख झेल रहे थे, उनके लिए बाहर निकल पड़े थे, उस दिन भगवद्-सत्ता का अवतार हुआ था। वाल्मीकि की व्याख्या के अनुसार इस भगवद्-अवतार का एक लक्षण यह है कि जो दीन-दुखी और आर्त्तजन हैं, उनके लिए जब सुखी लोग बाहर निकलेंगे, उसी दिन भगवद्-शक्ति प्रकट होगी। भगवान स्वयं निहित स्वरूप में सब जगह हैं। वे निहित हैं, कूटस्थ हैं, पर उन्हें प्रकट कौन करे ? कबीर ने कहा है कि भाई, सब के घर में, हर घर में राम हैं जरूर, लेकिन सोये हुए हैं—'बलिहारी वा देह की जामें परगट होय।' यानी देवता सब में हैं, पर सोये हुए हैं। पर उस देह की बलिहारी है जिससे राम प्रकट

हो जाते हैं। यह निहित आत्मसत्ता है। भगवद्-सत्ता है। यही भगवद्-सत्ता तब प्रकट हुई, जब रामचंद्र ने राजमहल छोड़ा। जब तक उन्होंने महल नहीं छोड़ा था, तब तक यह नहीं कहा जा सकता था कि भगवद्-सत्ता प्रकट हो चुकी थी। प्रकट कब हुई थी? गांधीजी ने बेरिस्टरी छोड़ी थी, तब? यही एक रहस्य की बात है कि स्वस्थ बलों के द्वारा उन्मत्त बल को पराजित किया जाना है।

रामचंद्रजी की यह स्वस्थता कैसी अद्भुत है! यह स्थिति गौर करने लायक है।

कहते हैं कि राम के पास समाचार आये कि अब तुम्हें राजगद्दी पर नहीं बैठना है, वरन् वन में जाना है—चौदह वर्षों के लिए। देखिए, सारी तैयारियां चल रही थी, राजगद्दी पर बैठने की। उपवास किया था उन्होंने और सीता ने। अयोध्या में तोरण बांधे गए थे। चारों तरफ मंगल-वाद्य बज रहे थे। कौशल्या सोच रही थी कि अरे रे! आज तक तो प्रतिष्ठा नहीं मिल पाई थी। कैकेई की ही चलती थी, पर चलो, अब इतना तो हुआ कि मेरा बेटा युवराज बनेगा। वह आनंद में मगन थी। तभी मंथरा और कैकेई ने मिलकर एक विकट कांड खड़ा कर दिया कि 'अपने दो वचन मांगती हूं। पहले वे दीजिए। एक यह, कि मेरे पुत्र भरत को राजगद्दी पर बिठाइए और दूसरा यह, कि रामचंद्र को चौदह वर्षों के लिए वन में भेज दीजिए।' भरत घर में नहीं हैं, ननिहाल में हैं। कैकेई ने जब ये वर मांगे, उस समय दशरथ बेहोश-से हो गए। बोले: 'अगर तू भरत को राजगद्दी देना चाहती है तो भले ही यह वर मांग ले, पर रामचंद्र को चौदह वर्ष का वनवास देने का क्या कारण है?' मंथरा ने उसको पहले से ही समझा रखा था कि अगर राम चौदह वर्ष तक यहां रहेगा, तो भरत सुख से राज नहीं कर सकेगा। ऐसी है मंथरा की बुद्धि, जिसने रामचंद्र का ऐसा मूल्यांकन किया। राम ऐसे थे भी नहीं, पर मंथरा की बुद्धि थी, कि राम को अयोध्या में न रहने दिया जाए। इन चौदह वर्षों में जब भरत की शासन-सत्ता जम जाएगी, तब कोई डर नहीं।

ऐसी ही बुद्धि शकुनि की थी। उसने सोचा था कि पांडवों को बारह वर्षों के लिए वनवास दे दो और तेरहवां वर्ष गुप्तवास का रखो। तब तक तो दुर्योधन की शासन-सत्ता अच्छी तरह से जम चुकी होगी। फिर भले ही पांडव आएं। क्या होना-जाना है? सत्ता जम चकी होगी

या उखड़ चुकी होगी, यह तो उसे पता नहीं; चौदह वर्षों के बाद पता लगा कि क्या रहा और क्या गया! पर महाभारत और रामायण के बीच एक मुख्य अंतर यह है कि महाभारत पतनोन्मुखी-संस्कृति की—डिकेडेंट सिविलाइजेशन की कथा है। अधोपतन की ओर जाती हुई संस्कृति का यह बयान है। उस समय हमारा आर्य-समाज अधःपतन की ओर जा रहा था। रामायण उत्कर्षोन्मुखी भारतीय संस्कृति का लक्षण है। राजकीय सत्ता पर अकिंचन, लोकाभिमुखी ब्रह्मसत्ता का वर्चस्व है। जब विश्वामित्र दशरथ से जाकर कहते हैं कि यज्ञ की रक्षा के लिए आपको अपने दो बेटों को भेजना पड़ेगा—तो दशरथ उन्हें सौंप देते हैं। और महाभारत में व्यासजी हाथ उठा कर कहते हैं: 'भाइयो! लड़ो मत, लड़ो मत।' तो दुर्योधन कहता है: 'अब तुम वृद्ध हो गए हो। वन में क्यों नहीं चले जाते। क्यों बेकार में कचकच करते रहते हो? क्या यह आपका काम है? मैं धर्म-अधर्म सब जानता हूं। मेरे सामने उसका पारायण करने की जरूरत नहीं।'

महाभारत में सांस्कृतिक पतन आगे बढ़ता है, क्योंकि वहां भले आदमी की कोई नहीं सुनता। एक दिन मैं एक मिनिस्टर के यहां गया था, सलाह देने। मैं कोई ऋषि नहीं हूं। हम तो भैया, उनकी चरण-रज हैं। चरण-रज भी ऋषियों की, पशुओं की नहीं। तब तो कुछ ज्ञान होगा ही! मैंने उनसे कहा: 'मेरे भाई! लालच देकर पक्ष-परिवर्तन मत कराओ। बंद कर दो यह खरीददारी। ये क्या घोड़े-गधे हैं, धारा-सभा के सदस्य हैं। मेहरबानी करके यह सब रहने दो।' वे कहने लगे: 'मनुभाई! हम लोग यहां पर कोई भजन करने नहीं आए। भजन करने के लिए मिनिस्टर नहीं बने हैं। हमें तो यहीं बैठना है।' 'अच्छी बात है—तब बैठो।' कुछ दिनों बाद वे सब उखड़ गए। भजन भजन की जगह रहा। यह मैंने आपको वर्तमान जीवन का एक किस्सा सुनाया है। पर यह बात नहीं है कि कलियुग में अच्छे लोग न रहते हों, और सतयुग में कोई खराब आदमी नहीं हों, ऐसा थोड़े ही है। कलियुग में भी विदुरजी जैसे भले लोग थे और सतयुग में भी रावण जैसे दुष्ट लोग थे। पर जिस युग में समझदारों, सज्जनों और सुशील लोगों की चलती है, वह सतयुग है, और जिसमें इन लोगों की नहीं चलती, वह कलियुग है।

महाभारत कलियुग के आरम्भ की कथा है। यह भी कहा गया है कि श्रीकृष्ण भगवान जब तक इस पृथ्वी पर विराजमान थे, तब तक

कलियुग तीन पैरों से चलता था। और ज्योंही भगवान स्वधाम लौटे नहीं कि फिर तो वह चारों पैरों से दौड़ने लगा। अभी तो आठ पैरों से दौड़ रहा होगा, कौन जाने ! पर यह कलियुग है, और वह था सतयुग। जब विश्वामित्रजी ने कहा कि राजन् ! आपको अपने दोनों पुत्र राक्षसों का वध करने के लिए मेरे साथ भेजने होंगे, तो वे मना नहीं कर सके। तो रामचन्द्र सतयुग लाने वाले एक उत्तमोत्तम प्रतिनिधि हैं। जब उन्हें पता लगा कि उन्हें अब वन में जाना होगा, तो वे पिता से कहते हैं : 'आप क्यों दुखी हो रहे हैं ? अगर आप वचन-पालन नहीं करेंगे, तो दुनिया में और कौन करेगा ? यह सच है कि आपने मां को दो वर दिये थे और वे आपसे दोनों वर मांग रही हैं। अब यह सही मांग है या गलत, इसके निर्णय का अधिकार न मुझको है, न आपको। आपने कैकेई से कहा था कि जो भी मांगोगी, दूंगा। आपने यह तो कहा नहीं था कि सही मांगोगी तभी दूंगा। तब फिर ये जो मांग रही हैं, उसे देने के लिए आप वचनबद्ध हैं। अगर आप नहीं देते, तो मैं देने के लिए वचन-बद्ध हूँ, क्योंकि पिता का ऋण पुत्र को चुकाना ही चाहिए। आप इन्कार कर देंगे तब भी मैं तो पालन करूंगा ही।' इतना कहने के पश्चात् राम कौशल्या के पास गए। कौशल्या ने कहा : 'आ गए बेटे ! बहुत अच्छा किया। ले, फलाहार कर ले। आज तो तुम्हें राज-सिंहासन पर बैठना है। मुझे बहुत खुशी हो रही है।' अब इस हर्ष-विभोर मां को वज्राघात जैसा समाचार क्योंकर दिया जाए ? राम ने बहुत मधुर स्वर में कहा : 'पिताजी ने मुझे राज सौंपा है', अब यह कैसे बोला जाए कि सुनकर सामने वाले की बेचैनी में थोड़ी कमी आए और सामने वाले को तसल्ली मिले—इसीलिए राम ने 'राज' शब्द पकड़ लिया, कि 'हां, पिताजी ने मुझे राज सौंपा है, लेकिन वन का राज सौंपा है।'

'वन का राज सौंपा है ?' अब इसे कौशल्या इन्कार करती है। पिता दशरथ भी मना करते हैं। वे कहते हैं : 'तू चला जाएगा तो मैं मर जाऊंगा। तेरे बिना मैं जी न सकूंगा, और सचमुच वे मर गए। राम ने जो कदम उठाया, उसका एक परिणाम पिता की मृत्यु में आया, फिर भी राम ने उनका कहना न माना। 'हानि-लाभ, जीवन-मरण, जस-अपजस विधि हाथ'—ये बातें हमारे हाथ में नहीं हैं। इसका निर्णय कौन करे ?

अगर क्षत्रिय का पुत्र यह कहे कि मैं डाकुओं से मुकाबला करने जाता हूँ, पर जरा गारंटी तो दो, कि मरूंगा नहीं, तभी जाऊंगा। तो

ऐसा क्षत्रिय-पुत्र क्षात्रधर्म को नहीं समझता। अगर कोई स्त्री कहे कि मुझे विवाह तो करना है, पर जरा गारंटी दो कि मेरा पति मुझे कभी भी कटु शब्द नहीं कहेगा। तो समझ लें कि उसे विवाह नहीं करना, घर में बैठी रहे। या अगर कोई पुरुष कहे कि मेरे लिए ऐसी पत्नी ढूंढ़ो कि जिसे मेरे सोचने से पहले ही पता लग जाए, जो बराबर आज्ञाकारी रहे। तो उसे विवाह का विचार स्थगित कर देना चाहिए और वह अकेला बैठा रहे। इन सबका अपना-अपना धर्म है। वह धर्म उस स्थिति से उद्भूत होता है, जिसे आप स्वीकार करते हैं। अगर आप स्वीकार नहीं करते तो धर्म खड़ा ही नहीं होता। धर्म एक संदर्भ-युक्त वस्तु है। आप अमुक संदर्भ खड़ा करते हैं तो आपको धर्म का पालन करना ही पड़ेगा। बालक हो ही नहीं तो वह एक धर्म है, बालक हो तो दूसरा धर्म है। राम ने कहा : 'मैं क्षत्रिय हूँ। आपका पुत्र हूं। आपने जो वचन दिये हैं, उन्हें स्वीकार न करें तो मुझे तो पालन करना ही होगा।' पिता ने कहा : 'मैं मर जाऊंगा।' इस पर राम बोले : 'वह भगवान के हाथ की बात है। मेरे हाथ में नहीं। पर हां, वचन-पालन मेरे हाथ में है, मैं तो जाऊंगा ही।' और जाऊंगा कैसे ? किसी पर उपकार जताते हुए नहीं। मुझे मेरे पिता का ऋण चुकाने का जो अवसर मिला है, यह मेरा सौभाग्य है। इसे चम्पू रामायण में कवि ने अद्भुत रीति से प्रस्तुत किया है। राम ने हृदय खोल कर सामने रख दिया। वन में जाते समय राम कैकेई के चरण-स्पर्श करते हैं। उस समय का एक श्लोक चम्पू रामायण में यों है :

वनभुवि तनुमात्र त्राणमाज्ञापितं मे
सकल भुवनभारः स्थापितो वत्समूर्घ्नि।
तद्विह सुकरतायां आवयोस्तर्लितायां
मयि पतति गरीयानम्ब ते पक्षपातः॥

राम कैकेई से कहते हैं : 'माताजी ! आपने तो मुझे वन में जाने की ही आज्ञा दी है, मात्र मेरे अपने शरीर की रक्षा करने का काम ही मुझे सौंपा है, पर अपने पुत्र के माथे पर आपने सम्पूर्ण पृथ्वी को संभालने का उत्तरदायित्व डाला है। जब मैं सोचता हूं कि दोनों में से कौनसा काम आसान है, तो लगता है कि हे माता ! अगर आपने कोई पक्षपात किया है, तो मेरा पक्षपात किया है। अपने पुत्र को आपने कठिन काम सौंपा है, जबकि मुझे सरल काम दिया है। भले ही

सारी दुनिया कैकेई को गलत ठहराये, पर मैं तो माता! स्पष्ट कहता हूं कि आपने मेरा पक्षपात किया है।'

ऐसी भावना व्यक्त करने पर तो पत्थर भी क्यों न पिघल जाएं? पत्थर पिघल सकते हैं, तो कैकेई तो पत्थर नहीं! इसीलिए जब कैकेई चित्रकूट जाती है, तो अपना मुंह तक नहीं दिखा सकती। शरमाती-शरमाती जाती है, क्योंकि राम को वनवास देकर उसने अपने पुत्र का स्नेह भी खोया। इससे भी बढ़कर वह पति की मृत्यु का निमित्त बनी। पर राम तो राम थे। भरत-शत्रुघ्न को विदा करते समय एकांत में कहते हैं: 'माता कैकेई ने भले ही तुम्हारा अप्रिय किया हो, पर उनके मन में तो तुम्हारा प्रिय करने का ही भाव था, अतएव मेरी और सीता की शपथ देकर तुम्हें आज्ञा देता हूं कि तुम्हें कैकेई के प्रति मातृवत् व्यवहार ही रखना है।' यही नहीं, स्वयं कैकेई जो बात नहीं कह सकती थी, वह राम ने समझाते हुए कह दी: 'पिताजी ने जब कैकेई से ब्याह किया था, तब वधु-शुल्क के रूप में यह कहा था कि इसके पुत्र को सिंहासन पर बिठा दूंगा, और फिर देवासुर संग्राम के समय दो अन्य वरदान दिये थे। अतः ऐसा कुछ मत करना जिससे कैकेई को दुःख पहुँचे। सुख-दुख तो विधि के हाथ हैं। राम ने यों भरत को विधि-निर्माण की बात समझा दी। विधि की व्याख्या हम जो चाहें सो करें, पर विधि यानी हमसे अलग कोई और शक्ति। यह सही है। इन तमाम शक्तियों पर तुम्हारा नियंत्रण नहीं है। जब नियंत्रण नहीं है तो कैसी वृत्ति अपनाओगे? —ऐसी, कि जो शोभा दें। शोभा देने योग्य कदम हम सीधा लें, उल्टा नहीं।

भरत ने अपनी मां को कुटिल कहा, पर राम के लिए वे कुटिल नहीं थीं। राम ने तो वापस लौटने पर भी कैकेई को अपनी माता कौशल्या की तरह ही प्रणाम किया था, क्योंकि राम जानते थे कि इस वक्त अगर कोई सबसे अधिक शर्म अनुभव कर रही है, तो वह कैकेई ही है। अयोध्या में ऐसा दुखी व्यक्ति और कौन होगा कि जिसका खुद उसके पुत्र ने ही अपमान किया हो। समाज ने किया सो तो ठीक, पर सगे पुत्र ने जिससे यह कहा कि 'मैं तेरे पेट से न जन्मा होता तो अच्छा होता। मुझे ऐसे पिता, ऐसे वंश, ऐसे भाई के प्रति गौरव है, पर एक तू ही मेरे भाग्य में मेरी मां हुई?' जिसका सगा पुत्र ऐसा अपमान करे और पूरी दुनिया जिसे दुत्कारे, ऐसे व्यक्ति का दुःख राम के अंतःकरण को व्यथित किये हुए है। अतः जब वे रावण-वध के बाद अयोध्या लौटे तो आते ही

कैकेई के चरण स्पर्श किये और चम्पू रामायण के अनुसार कहने लगे :

तातस्नेहो भरत महिमा पौरुषं वायुसूनो:
सख्यंचापि प्लवमनृपते: कथापि सौमित्र भक्ति: ।
सीता सत्यं मम भुजबलं वैरिणां वैरभाव:
ज्ञातं सर्वे तवचरणयोर्मातरेष प्रसाद: ।।

यानी 'हे माता, तुम्हारी कृपा से मुझे कितना समृद्ध अनुभव हुआ है। तुमने वन में भिजवाया, तो कितनी सारी बातें मुझे जानने को मिली। पिता का अपने पुत्र पर कितना वात्सल्य होता है, इसकी कल्पना मुझे अयोध्या में रहते हुए शायद ही कभी हो पाती। मैं वन में क्या गया, पिता ने राम-राम रटते-रटते प्राण त्याग दिये। पिता का स्नेह क्या होता है, इसका तो मुझे अन्यथा ज्ञान ही नहीं होता! यह ज्ञान किसके प्रताप का प्रसाद है मां? तुम्हारा ही तो। ...और भाई? भरत जैसा भाई भला और कौन हो सकता है? इसके हृदय में कितने बहुमूल्य हीरे-माणक का खजाना भरा पड़ा है, इस बात का पता मुझे लगता भी कैसे? जब मैंने राज्य छोड़ा और वन में गया, तब भरत ने मुझसे कहा कि मेरी मां ने भले ही मुझे राजगद्दी सौंपी हो, पर मैं तो राजगद्दी को तुच्छ समझता हूं। मैं वन में जाकर रहूंगा। मेरा बड़ा भाई जो कष्ट पा रहा है, वह मैं भोगूंगा। उसी की तरह जटाजूट रखूंगा और कंदमूल-फल खाऊंगा। यह भरत ऐसा भाई है मेरा, भला इस बात को मैं और यह संसार कैसे जान पाते?'

भरत के प्रति राम का स्नेह कैसा है? रावण-वध के पश्चात् राम को सीता की जितनी चिंता नहीं थी, उतनी भरत की थी। वे हनुमानजी को भेजते हैं : 'तू जल्दी जाकर भरत को समाचार सुना, क्योंकि चौदह वर्ष पूरे हो जाने के बाद एक भी दिन ऊपर निकाल जाएगा तो भरत अपने प्राण दे देगा। तू जा, और उसे समाचार दे कि मैं आ रहा हूं।' फिर जरा धीरे स्वर में कहते हैं : 'देख हनुमान! मैं तुम्हें इसलिए भेज रहा हूं कि साथ ही साथ यह पता भी लगाते आना कि मेरे आगमन का समाचार सुन कर भरत को खुशी होती है या ग्लानि? उसके चेहरे पर कैसे भाव उभरते हैं, यह जरूर देखना। समझदार आदमी बोलता नहीं, सामने वाले के चेहरे से मनोभाव पढ़ लेता है कि अमुक बात उसे पसंद आई या नहीं? देखना, अगर उसके मन में जरा भी संशय हो तो हमें

अयोध्या नहीं जाना है। मैं भरत को दुखी बनाना नहीं चाहता। भले ही वह सम्पूर्ण पृथ्वी का पालन करे। वह भी रघुनंदन ही है।*

'यदि वनवास न दिया गया होता तो ऐसे भरत का वास्तविक परिचय कैसे प्राप्त होता ?....और इस वानर-पुत्र हनुमान में कैसी शक्ति है, यह भी मैं कैसे जान पाता ? मनुष्यों से भी हजार गुणा अधिक समर्थ, हजार गुणा अधिक समझदार और वफादार है यह—यह बात मुझे वन में गए बिना कैसे पता लगती ?

इस वानर-राज सुग्रीव की मैत्री कैसी है, इसका भी मुझे कैसे पता लग पाता ? और लक्ष्मण की मेरे प्रति भक्ति कैसी अद्भुत है, इसका भी पता कैसे लग पाता ? चौदह वर्ष तक यह मेरे साथ रहा। एक दिन भी सुख से सोया नहीं और अपनी प्रिय उर्मिला को एक भी दिन याद नहीं किया। ऐसा है मेरा भाई लक्ष्मण—वनवास मिला, तभी तो यह बात पता लगी।

सीता का सत् क्या है, इसका भी मुझे और दुनिया को पता नहीं लगता। डरावनी और नरमांसाहारी उन राक्षसियों के बीच घिरी, जो हमेशा आज खाने और कल खाने का भय दिखाती रहती थी। चारों ओर सौ-योजन का सागर लंका को घेरे हुए था। उनके अंदर वह बेचारी अकेली थी और बाहर किसी को भी पता तक नहीं। मैं जी रही हूं, यह बात भी भला किससे और कैसे कहलवाती ? ऐसे वक्त में भी सीता ने अपनी आत्मा के सत् को अडिग रखा—भला, इस बात का दुनिया को और मुझे कैसे पता लग पाता ?

फिर मेरे भुजबल में कितना कौशल है, यह भी कैसे पता लगता ? वह तो रावण के साथ युद्ध होने पर पता लगा कि मुझ में कितनी शक्ति है ? और जब दुश्मन पीछे लग जाता है तो कैसा वैर ठनता है ? इसका मुझे ज्ञान ही कहां था ? शत्रु भी कैसा, कि जब सीता किसी और तरीके से नहीं मानी तो रामचंद्र का बनावटी शीश उसके सामने ले-जाकर कहने लगा : 'ले सीता ! यह रहा तेरा राम। मैंने इसे मार डाला।' और सीता तो बेहोश हो गई, कि यह क्या हुआ ? राम मारा गया ? नहीं, नहीं, राम नहीं मारे जा सकते—यों कहते-कहते जब उसने शीश को

*वाल्मीकि रामायण—युद्धकांड सं. 125—14-15-16-17

छुआ, तो इसे पता लगा कि वह तो पुतला था। पर इससे यह बात समझ में आई कि दुश्मन किस हद तक दुश्मनी मोल ले सकता है। हे माता! तेरे ही प्रसाद से यह सम्पूर्ण ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ।'

यह सुनने के बाद अगर पत्थर की बजाय लोहे की कैकेई होती तो वह भी पिघल जाती। यही एक विशेषता है स्वस्थ बल और उन्मत्त बल के बीच। स्वस्थ पुरुष में बल तो है पर वह उसे न प्रदर्शित करता न उसका दुरुपयोग करता। उस बल का उसे अभिमान नहीं होता। वह उसे अपनी प्रतिष्ठा नहीं बना लेता, न आराध्य मान कर चलता। उसकी तो यह मान्यता होती है कि बल से सवाया है न्याय, विवेक, क्षमा और शील। बल और भय से भी बड़ी शक्ति कोई और है। अब उसे धर्म कहें, ईश्वर कहें या विश्व का अंत:करण कहें। अत: जहां तक उसका सोचना है, वहां तक वह अपने बल का इस्तेमाल नहीं करता।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है : 'सम्पूर्ण रामायण विशाल फलक पर चलने वाली एक गृहकथा है।' रवीन्द्र ठहरे ऋषि। जो अन्तस्थ, दूरस्थ, अनागत, अदृश्य की बातें देख सके, उसे ऋषि कहा जाता है। तो रवीन्द्र ने एक ही वाक्य में कह दिया कि 'सम्पूर्ण रामायण एक विशाल पट पर चलती हुई गृहकथा है।' उन्होंने यह नहीं कहा कि रामायण संस्कृत की कथा है या रामायण एक युद्धकथा है। उन्होंने तो यही कहा कि रामायण एक व्यापक कुटुम्बकथा है। एक कुटुम्ब कैसे रह सकता है, किस बुनियाद पर टिका रह सकता है—इसकी कुंजी रामायण में निहित है। भाई हो तो कैसा, पिता हो तो कैसा, पत्नी हो तो कैसी, माता हो तो कैसी—इस पर एक के बाद एक दृष्टिपात कर लीजिए। एक-एक पात्र की अच्छी तरह से जांच करके देख लें, तो कुटुम्ब की व्याख्या या महिमा देखने को मिलेगी।

जब लक्ष्मण वन में साथ चलने का अनुरोध करते हैं, तो राम उसे कहते हैं : 'तू साथ चलेगा, तो यहां क्या हाल हो जाएगा? तुझे यहीं रह कर सब की सेवा करनी चाहिए। क्या तुझे अपना धर्म समझ में नहीं आता?' लक्ष्मण बोले : 'बड़े भैया! रहने भी दीजिए। धर्म-वर्म की बातों का मुझे अता-पता नहीं चलता। क्या आप किसी बगुले को हंस बना सकते हैं? भैया! मैं तो आपका ही हूं और आपके ही पास रहूंगा। मुझे यह धर्म-चर्चा अच्छी नहीं लगती। अपना धर्म तो मैंने आपके साथ रहना ही तय किया है।' तब राम बोले : 'जा, माता सुमित्रा से आज्ञा लेकर आ।'

लक्ष्मण अपनी माता से जब आज्ञा लेने गए तो वह बोली : 'रामं दशरथं विद्धि। तू वन में जा, पर अपना यश कमाना। जाना आसान है पर यश कमाना कठिन है। अतः रामं दशरथं विद्धि, माम विद्धि जनकात्मजा। यानी तू वन में जाता है तो भले ही जा, पर वन में तू किस तरह रहेगा कि जिससे तेरी शोभा बढे, यह समझ ले। राम को तू पिता मानना और सीता को अपनी मां। और अयोध्या अटवीं विद्धि, यानी वन को तू अयोध्या मानना। इस अयोध्या को याद मत रखना। हे पुत्र, तू सुख से जा।' जिसके घर में अभी कल ही विवाह के बाद बहू उर्मिला आई थी, जिसका पति अब भी बेहोशी की हालत में पड़ा था, जिसने अप्रतिष्ठित पत्नी की तरह किसी दिन सुख नहीं देखा था, वही आज ऐसे संकट के समय अपने पुत्र को यों कह रही थी कि 'जा पुत्र ! जा, हम तो अपनी गुजार लेंगे।' इसे कहते हैं कुटुम्ब, शेष सब तो लॉज ही समझें। अपनी सुविधा से खाना खा लिया और अपनी सुविधा से चल दिये। आजकल हम लोग अपने कुटुम्बों को कुटुम्ब-भावना से चला रहे हैं, या लॉज चला रहे हैं ? यह सोचने का मुद्दा है। निभती है तो साथ-साथ रहते हैं, और नहीं निभती, तो अलग हो जाते हैं। इधर सम्पत्ति के नये कर अमल में आये हैं। पति-पत्नी साथ हो तो कर अधिक देना पड़ता है। इसलिए कई ऐसे भी निकले, कि तलाक लेकर कानूनन दो हिस्से कर डाले और गैरकानूनी तौर पर साथ-साथ रहते हैं।—भला किसलिए ? इसलिए कि टेक्स न चुकाना पड़े। टेक्स देना पड़ेगा, इसलिए अपना प्रबंध कर लो। शरीर और मन से तो एक हैं ही, पर टेक्स न चुकाना पड़े, इस कारण तलाक ले लेते हैं।

एक शाला-मंडल के पास एक महिला अर्जी लेकर आई। कहने लगी कि परित्यक्ता-विधवा महिलाओं को सरकार ने पहले नौकरी देने का नियम बनाया है। वह प्रमाण-पत्र लाई थी कि 'यह महिला परित्यक्ता है।' अब भला कोई परित्यक्ता होगी तो उसके चेहरे के भावों से ही पता लग जाता है, यानी मानसिक विषाद चेहरे पर उभर आता है। दिल की व्यथा मुखाकृति की रेखाओं में झलकने लगती है। शोक और खेद कैसे ही करके व्यक्त हो जाता है। शाला-मंडल के अधिकारी ने अपने स्तर पर इस बात का पता लगवाया कि क्या इस महिला की दशा वाकई ऐसी है ? तब पता चला कि वह तो बिल्कुल झूठा प्रमाण-पत्र लेकर आई थी। उसका पति है, साथ रहता है। ऐसे-ऐसे किस्से तक सामने आए कि लोग किसी हरिजन को या पिछड़े वर्ग वाले को अपना पुत्र गोद दे

देते हैं। ऐसी दशा में कुटुम्ब कहां रहा ? कुटुम्ब का अर्थ तो यह है कि सुख-दुख को आपस में बांट लें। कुटुम्ब यानी अलग-अलग उम्र के, अलग-अलग काम-धंधे करते हुए भी ऐक्यभाव से सुख-दुख को बांट लेने वाले लोगों की एक ईकाई। सुख-दुख का यह बंटवारा आमदनी के हिसाब से नहीं अपितु कर्त्तव्य की भावना से होता है। जहां बीमार, बालक या वृद्ध को स्वस्थ एवं युवा सदस्यों की तुलना में अधिक दिया जाए, ऐसी त्यागभावना में जहां आनंद अनुभव किया जाए, वह कुटुम्ब कहलाता है। कुटुम्ब में सास-ससुर होते हैं, किसी दुखिया भुआ की पुत्री और मौसी की बेटी भी होती है। कुटुम्ब में वृद्ध से लेकर बालक तक सब आ जाते हैं। इसमें अच्छा कमाने वाला भी होता है और कम आमदनी वाला भी होता है। इसमें एक बहू पीएच.डी. भी होती है और दूसरी कम पढ़ी-लिखी भी। जहां ये सब साथ-साथ रह सकें, वह कुटुम्ब है। पर स्वार्थ के मारे लोग जहां साथ न रह सकें, उनके लिए यह मात्र लॉज होता है।

आदिकवि ने इस बात को हथेली पर रखे आंवले की भांति समग्रतया देख लिया है कि संस्कृति का आधार कुटुम्ब है। जिस रोज कुटुम्ब टूट जाएगा, उसी दिन संस्कृति छिन्न-भिन्न हो जाएगी। संस्कृति बदली नहीं जाती, टूटती ही है। संस्कृति का आधार क्या है ? —साथ रहने की सहज-स्वाभाविक कला का नाम संस्कृति है और जहां साथ-साथ रहना न आए, उसका नाम विकृति है।

जिन दिनों आदिमानव के रूप से मनुष्य जंगलों में रहता था, उस समय वह साथ-साथ नहीं रहता था। इसलिए उन दिनों संस्कृति थी ही नहीं। पर संस्कृति शुरू कब होती है ? —जब हम सहज स्नेहभाव से साथ रहते हैं तब ! दो व्यक्तियों का साथ रहना भी कोई साथ रहना कहलाता है ? दो जनों के बीच झगड़ा कैसा ! जहां ताश के बावन पत्ते मिलजुल कर साथ रहें और उनके बीच झगड़ा न हो, तब ही कहा जाता है कि वे मिलजुल कर बिना झगड़े रहे।

अरिस्टोटल और प्लेटो नामक दो महान मनीषी हो चुके हैं। प्लेटो की ऐसी मान्यता थी कि कुटुम्ब जैसी संस्था होनी ही नहीं चाहिए। कारण यह है कि कुटुम्ब में अगर रहेंगे तो उनके बीच ममता का एक बंधन बन जाएगा। ममता में बंध जाने के बाद व्यक्ति राज्य के प्रति वफादार रहने की बजाय कुटुम्ब के प्रति वफादार बन जाता है। इससे राज्य अच्छी तरह से नहीं चल पाता। इसके लिए यों किया जाना

चाहिए कि कुटुम्ब नामक संस्था हो ही नहीं। इसे समाप्त कर दिया जाए। ज्योंही कोई बालक जन्मा, त्योंही उसकी माता की आंखों पर पट्टी बांध दी जाए और बालक को लाकर नर्सरी में भर्ती करा दें, जहां लालन-पालन में विशेषज्ञ नर्सें उसकी देखभाल करें। यह एक्सपर्टीज्म है कि विशेषज्ञों के हाथों बालक का विकास हो। जहां नर्सें बाल-मनोविज्ञान की ज्ञाता होंगी, बाल मन का बराबर विश्लेषण करने वाली होंगी, इन्द्रिय-विकास के सिद्धांत की ज्ञाता होंगी तो वहां बालक का विकास अच्छा ही होगा—ऐसी प्लेटो की मान्यता थी।

अरिस्टोटल ने कहा कि प्लेटो मेरा गुरु है, पर इस मामले में वह बिल्कुल गलत रास्ते पर है। ऐसा हर्गिज न किया जाए। मेरे गुरु की मान्यता है कि कुटुम्ब और राज्य संस्था मानो विरोधी हैं। पर ऐसी बात है नहीं। अरिस्टोटल ने कुटुम्ब के लिए एक शब्द का प्रयोग किया है कि वह समस्त सद्‌गुणों का बियाड़ होता है (इट इज सीड बैड ओफ आल द वर्च्यूज)। सद्‌गुण मेरे गुरु को पसंद हैं। सद्‌गुणों की शिक्षा का यही तो केन्द्र है। यहीं उनको संस्कार मिलेंगे। भाई बहन के लिए त्याग करेगा। भाई बीमार हो तो बहन कितनी बेसब्र हो जाती है। कितनी रातें जागती है। खून तक देती है। एक उदाहरण ऐसा भी आया था कि भाई बुरी तरह से जल गया था, तो बहन ने अपनी चमड़ी उतार कर दी थी। मां-बाप, पति-पत्नी, मां-बेटे, भाई-बहन, भाई-भतीजे, मौसी, भानजे आदि के ओहोहो, कितने व कैसे-कैसे मधुर संबंध होते हैं! इस वातावरण में एक-दूसरे के लिए त्याग के जो गुण विकसित होते हैं, भला वे राज्य संस्था में क्यों नहीं पैदा होंगे? यही गुण राज्य और समाज में फैलेंगे। पर जहां मूल में गुण ही न हों, तो?

अरिस्टोटल ने यह एक आधारभूत सवाल सामने रखा है कि जहां मूलतः सद्‌गुण पैदा ही नहीं होंगे, तो वहां राज्य को क्या हासिल हो पाएगा? समाज को क्या मिल पाएगा? आदिकवि को इस सचाई का ज्ञान है। रवीन्द्रनाथ भी इस सत्य को सही परिप्रेक्ष्य में समझ चुके थे। उन्होंने लिखा था कि रामायण एक विशाल पट पर चलने वाली वृहद् कुटुम्ब-कथा है। प्रश्न उठता है कि इसके अंदर क्या है? लक्ष्मण को देखिए, भरत को देखिए, माताओं को देखिए, दशरथ को देखिए, सीता-रामचंद्र को देखिए, उर्मिला को याद कीजिए—पर सब को अंततः एक कुटुम्ब के रूप में देखिए। उनमें आपस में त्याग करने की जो उत्कंठा

है, क्षमा करने की जो उद्यतता है, इसकी कथा वाल्मीकि ने विस्तारपूर्वक लिखी है। आदिकवि द्वारा हमारी संस्कृति की यह महान् सेवा है। इसके साथ ही उन्होंने एक और काम किया है कि हमारी संस्कृति के साथ अन्य संस्कृतियों की तुलना भी अपने आप हो जाती है। उदाहरणार्थ बाली का वध। उन्होंने लिखा है कि जब बाली मर गया तो तारा का सुग्रीव के साथ पुनर्विवाह हो गया। उस समाज को इसमें कोई एतराज नहीं है। बाली और सुग्रीव दोनों भाई राज्यसत्ता के लिए लड़े थे और एक-दूसरे को समाप्त करने की सीमा तक जा पहुँचे थे। क्या ऐसी बात भरत-राम सोच सकते थे ? जब रावण मरा था तो मंदोदरी ने विभीषण से विवाह किया था। एक संस्कृति असुर, दूसरी संस्कृति वानर, तीसरी संस्कृति भील-शबर, और चौथी संस्कृति हम आर्यों की। रामायण में ये सभी संस्कृतियां हैं और इनके कौटुम्बिक जीवन के चित्र दिये गए हैं। समझदारों को समझ लेना चाहिए कि इन सब के अंदर वाल्मीकि हमसे क्या कहना चाहते हैं। यही, कि यह बात हमारे कुटुम्बों में शुभ संस्कारों के रूप में उतर जाए, भले ही वह राम मंदिर के माध्यम से उतरे या प्राचीन कथा के मार्फत उतरे, यानी चाहे जिस माध्यम से उतरे, पर संस्कृति को चिर-स्थायी बनाये रखना है तो उतरना चाहिए। विश्वविद्यालयों का कर्त्तव्य है कि इस उत्तराधिकार का व्यवस्थित ढंग से वितरण करें। भले ही काव्य की दृष्टि से पढ़ायें। यहां धार्मिक दृष्टि से पढ़ाये जाने का मैं समर्थन नहीं करता, क्योंकि धर्म को पढ़ाने से धर्म धर्म नहीं रहता। धर्म पढ़ाई का विषय नहीं है। धर्म तो मनुष्य के अंतर में ठीक उसी भांति प्रकट होता है, जिस भांति सूर्य को देखकर कमल खिल उठता है। उसका पाठ्यक्रम नहीं हो सकता। पर रामायण काव्य तो है। इसे पांचवी-छठी कक्षा से लेकर एम. ए. तक पढ़ाया जाना चाहिए।

मैं इजराइल गया था। बहुत आगे बढ़ा हुआ देश है वह। एटमबम बना लिया है। सब कुछ है उसके पास। पर उनकी पहली कक्षा से लेकर ठेठ एम. ए. तक पुरानी बाइबिल पढ़ायी ही जाएगी। ऐसा हर्गिज नहीं हो सकता कि कोई बाइबिल पढ़े बिना एम. ए. हो जाए। बाइबिल भी हिब्रू में पढ़ी जाएगी, जिस भाषा में वह मूल रूप में लिखी गई थी। अगर कोई व्यक्ति हिब्रू पढ़ने से इन्कार करता है तो उससे किसी अन्य देश में चले जाने को कह दिया जाता है। यहां ऐसा नहीं है। हमें ऐसा करने की जरूरत नहीं। भगवान की पूरी कृपा है। अभी हमारे यहां

सांस्कृतिक समन्वय की प्रणाली चल रही है। तब भला स्वेच्छा से तो पढ़ा सकते हैं। संस्कृत में पढ़ाइए !

रामायण की महत्ता एक और दृष्टि से भी विचारणीय है। रामायण ने जिस तरह से उन्मत्त बल के समक्ष स्वस्थ बल को रखकर संसार की कैसे रक्षा की जाए यह बात बताई है, यह तो एक पक्ष हुआ। इससे साथ ही साथ इस स्वस्थ बल के अंत:स्वरूप का दर्शन भी कराया है। जब रावण मर गया, तब राम ने विभीषण से कहा कि अपने भाई का श्राद्ध करने के लिए तू जा। मैं भी उपस्थित रहूंगा। 'मरणांतानि वैराणि' यानी मरण के साथ ही वैर का भी अंत आ जाता है। अगर हम लाग रामायण का इतना-सा बोध-पाठ ही ग्रहण कर लें, तो ? निरर्थक खून-खच्चर करने वाले वैर का अंत ही हो जाए।

माईधार में हमने किशोरों की एक कक्षा लगाई थी। पास के शेवालिया गांव के लड़के भी आए। वे अपने साथ पानी का एक घड़ा भर कर लाए थे। मैंने पूछा : 'क्यों भई ! पानी का घड़ा क्यों लाए हो ?' लड़के बोले : 'माईधार गांव से हमारा अपैया है। हम न यहां का पानी पीते, न कुछ खाते।' मैंने पूछा : 'क्यों, तुम्हारी उनसे कोई लड़ाई हो गई थी।' वे कहने लगे : 'हमारी तो नहीं, शायद चारेक पीढ़ी पहले कुछ हुआ होगा। हम तो नहीं जानते, हमारे पूर्वजों ने अपैया किया था।' मुझे उनको पहले समझाना पड़ा कि प्रौढ़-शिक्षण का पहला काम इस मूढ़तापूर्ण हठ का निराकरण करना है। मैं बोला : 'बैठो, तुम्हारा उनसे कोई झगड़ा तो नहीं हुआ ना ? तब ऐसा क्यों करते हो ? क्या तुमको किसी ने मारा-पीटा है ?' झगड़े को जारी रखने का नाम संस्कृति है या उसका शमन करने का नाम संस्कृति है ? उन्हें समझा-समझा कर दो दिनों बाद पानी पीने के लिए तैयार किया। शुरुआत में तो यह कहना पड़ा कि यह संस्था माईधार का हिस्सा है, पर यह स्वयं माईधार गांव नहीं है। फिर उन्होंने खाने-पीने का क्रम शुरू किया। संस्कृति का यही लक्षण है—मनुष्य को उदार बनाकर विभु पद तक ले जाना। मैंने कहा : 'जन्मना जायते जन्तु: संस्कारात् विभु उच्यते।' अगर हम यह कर लें तो मनुष्य को जातियों अथवा संस्कृतियों के मध्य संकीर्णता-जनित मूढ़ आग्रह, अकारण हिंसा या आक्रमण-वैर आदि की दीवारें तोड़नी हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने क्या कहा था ?—'अंतर मम विकसित करो,

अंतरतर हे !' मेरा अंत:करण विशाल बना दो प्रभु ! यह कैसे बनाएं ?

'मुक्त करो हे शबार संगे
मुक्त करो हे बंध।'

यानी मुझे सबसे जोड़ दीजिए। वह तो जोड़ने ही बैठा है, पर जोड़े कैसे ? 'मुक्त करो हे बंध'—जब तुम अपने अहंकार की रस्सियों को तोड़ो। मैं ब्राह्मण, मैं किसान, मैं क्षत्रिय, मैं अध्यापक, यह अनपढ़, यह शिक्षित, यह काला, यह गोरा, यह भील, यह निषाद, यह वानर, यह राक्षस, या बांका, यह ऊंचा, यह रूपवान—ये सब हमारे मृत्युपाश हैं। मनुष्य-मनुष्य के मेलजोल के बीच की खाइयां हैं।

मेरे ये बंधन टूटने पर ही मेरा जुड़ पाना संभव है, अन्यथा कैसे जुड़ सकता हूं ? इसका सबसे बड़ा उदाहरण हैं रामचंद्रजी। वाल्मीकि रामायण ने असुरपति रावण के विरुद्ध जिस अनिवार्य संग्राम का वर्णन किया है यही सबसे बड़ा काम था। उसने लंका की ओर प्रयाण करते समय रामचंद्रजी को सर्वसाधारण से जोड़ने का जो काम किया, वही सबसे बड़ा काम था। ज्योंही राम बाहर निकले, और वन में दाखिल हुए कि तभी उन्हें सबसे पहले निषाद मिला। निषाद यानी भील। यह निषाद गुह सर्वप्रथम उन्हें गंगा के तट पर मिला और कहने लगा : 'ओहोहो ! तुम यहां ! मैं तो दशरथ का मित्र हूं। आओ, मेरे घर चलो। मेरा घर तो झौंपड़ा है। उसमें रहने आते हो तो सारा प्रबंध कर दूंगा।' इस पर राम ने कहा : 'मैं नहीं आऊंगा, क्योंकि माता को मैंने वचन दिया है कि मुनियों का-सा जीवन जीऊंगा। वन और मुनि—ये दो शब्द हैं। वन में मैं रहूंगा और मुनियों की भांति जीवन बिताऊंगा। अपने दिल की यह बात राम पहले पहल निषाद मित्र से कहते हैं। आर्य लोग इन्हें अधम मानते थे, पर रामचंद्र इससे गले मिले थे। अब अस्पृश्यता कहां रह गई ?

रावण के मरने पर राम ने जिस तरह से हनुमान के साथ भरत के पास अपने आने का समाचार भेजा था, वैसे ही अपनी कुशलक्षेमपूर्ण अगवानी का समाचार गुह के पास भी भेजा था। गुह भी चिंता कर रहा होगा। उसकी भी राम को भरत के जितनी ही चिंता थी। उतना ही विश्वास था कि भरत की भांति गुह को इस समाचार से खुशी होगी। गुह और भरत दोनों इस संबंध से समान हैं। राजपुत्र और निषाद दोनों ही समान रूप से स्नेहपात्र हैं।

महाभारत ने कहा है कि मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है, क्योंकि मनुष्य जीवजन्तु से देवता बना है। इसकी उपेक्षा करना भगवान की उपेक्षा करने के समान है। बाइबिल में यही बात बहुत सुन्दर ढंग से कही गई है। हमारे शास्त्रों में इतनी सुन्दर ढंग से नहीं कही गई। इसकी एक आख्यायिका है।

कुछ लोग भगवान के पास बैकुंठ में गए। जाकर भगवान से बोले : 'भगवन् ! हम लोग आपके दर्शन करने आए हैं !'

'बैकुंठ में ?' भगवान ने पूछा। 'किसने तुम्हें बैकुंठ में घुसने दिया ? तुम लोग बाहर निकलो यहां से !'

लोगों ने पूछा : 'क्यों प्रभु ! हमसे कोई अपराध हुआ ?'

भगवान बोले : 'जब मैं भूखा था तब तुमने खाने को नहीं दिया, जब मैं प्यासा था तब तुमने पानी नहीं पिलाया, जब मैं सर्दी में ठिठुर रहा था तब तुमने मुझे ओढ़ने को नहीं दिया। निकल जाओ बैकुंठ से बाहर !'

लोग बोले : 'भगवन् ! श्रीमन् ! आप कब, किस दिन आए थे हमारे पास ? हमने तो आपको कभी देखा भी नहीं।'

हमारा भगवान तो चतुर्भुज होता है। शंख चक्र गदा पद्मधारी, किरीटधारी, राजीवलोचन—ऐसे भगवान की कल्पना कर रखी है हमने। पर भगवान ऐसे नहीं हैं। वे कैसे हैं, यह कोई नहीं जानता। बस इतना जानते हैं कि वे हैं। पर भगवान कैसे हैं, यह किसी ने नहीं जाना, न इति, न इति, न इति !

भगवान के स्वरूप की उक्त कल्पना कितनी रूढ़ हो गई कि उन लोगों ने कहा : 'यहां बैकुंठ में आने पर ही हमने आपको पहली बार देखा है, प्रभु ! इससे पहले तो देखा तक नहीं।'

इस पर भगवान बोले : 'जब तुम्हारे आसपास का कोई भी व्यक्ति भूख के मारे मर रहा था, तब तुमने मुझे भूखा मारा था। तुम्हारे आस-पास का एक भी व्यक्ति जब प्यास के मारे तड़प रहा था, और उसे तुमने पानी नहीं दिया, तब तुमने मुझे पानी नहीं पिलाया था ! तुम्हारे आसपास का एक भी व्यक्ति जब ठंड से ठिठुर रहा था, तब तुमने मुझे

सर्दी के मारे ठिठुरने दिया था ! ...यू गेट आउट रास्कल्स ! निकल जाओ यहां से, सब के सब !'

थोड़ी देर बाद वहां कुछ दूसरे आदमी आये। आकर बोले : 'भगवन् ! हम आपके दर्शनों के लिए आए हैं।'

'ओहोहो ! आओ, आओ। बैठो, बैठो। बहुत अच्छा किया कि तुम लोग आए। सुनो भई ! इनकी व्यवस्था करो वैकुंठ में। इन लोगों ने मुझे खाने को दिया था, पीने को दिया था, मुझ पर बहुत उपकार किये थे।' भगवान ने कहा।

वे लोग कहने लगे : 'लेकिन प्रभु ! आप कब पधारे थे ? हमने तो आपको देखा तक नहीं। पहली ही बार आपको देख रहे हैं हम। ऐसा क्यों कह रहे हैं ?'

इस पर भगवान बोले : 'तुम्हारे आसपास एक भी व्यक्ति जब भूखा मर रहा था, तब तुमने उसे जो खाना दिया था, वह मुझ तक पहुंच गया था। तुम्हारे आसपास एक भी व्यक्ति जब ठंड के मारे ठिठुर रहा था, तब तुमने उसे वस्त्र दिये थे। वे वस्त्राभूषण मुझे मिल गए थे। जब तुम लोगों ने अपने में से एक भी प्यासे व्यक्ति को पानी पिलाया था, तब वह पानी मुझे ही पिलाया था।'

यह बाइबिल की कथा है।

हम लोग भगवान राम की महिमा क्यों गाते हैं ? क्यों हम हिन्दुस्तान के एक किनारे से दूसरे किनारे तक राम को सार्वभौम राजा स्वीकारते हैं ? इसका एक ही कारण है कि राम ने सर्वप्रथम यही कहा था कि वह अयोध्या का राजकुमार है ही नहीं। मैं तो निषाद का मित्र हूं, और मित्र भी कैसा ? चौदह वर्ष बीत जाने पर भी जिसे भुलाया नहीं। चौदह वर्ष बाद भी मित्रता दिखावटी नहीं थी। राम की मित्रता वज्र के समान सुदृढ़ होती है। चौदह वर्ष बीत जाने के बाद विमान में बैठे हुए सीताजी से उन्होंने क्या कहा था ? बोले थे कि नीचे उतरो। निषाद से मिलना है। इससे मिले बिना नहीं चलेगा। आखिर निषाद ने ऐसा किया क्या था ? किराया लिये बिना नाव से उस पार ही तो उतारा था। और तो कुछ किया ही नहीं था। यही तो कहा था कि मैं आपके साथ वन में दो-चार दिन चलता हूं। और कुछ तो उसने किया नहीं था। लेकिन हां, उसने अपने मन का गहन भाव प्रकट किया था।

पूरी रात पैरों पर खड़े रहकर चौकीदारी की थी उसने ! रामचंद्र जी निषाद के प्रेम को जानते हैं। यह मेरे किसी भी सगे-संबंधी से जरा भी कम नहीं है।

जब राम वन में आगे चले, तो उन्हें शबरी मिली। शबरी याने शबर जाति की महिला। यह जाति आज भी है हमारे देश में। ये आदिवासी लोग हैं। यह उन्हीं में से एक भीलनी थी। शबरी ने ईश्वर की उपासना की थी और अत्यन्त पवित्र जीवन बिताया था। इसी शबरी के बेर राम ने कौशल्या माता के भोजन से भी अधिक प्रेम से खाये थे। इसीलिए प्रसिद्ध हो गये 'शबरी के बेर।' रामचंद्र जी ने एक परम्परा शुरू कर दी, कि यह शबरी भी आदर की पात्र है।

शबर जाति की इस तपस्विनी को रामचंद्र जी कितने आदरपूर्वक कहते है :

तामुवाच ततो रामः श्रमणीं शंसितव्रताम् ।
कच्चिते निर्जिता विघ्नाः कच्चिते वर्धते तपः ।।
(अरण्यकांड 74/7–8)

राम उस नाटे कद वाली काली-कलूटी वृद्धा को 'चारुभाषिणी' कहते हैं। वे उससे पूछते हैं कि आपका आहार-विहार, व्रत-ध्यान निर्विघ्न तो चल रहा है ना ? जिस तरह राम ने शरभंग, सुतीक्ष्ण और अगस्त्य से पूछा था कि 'तव वर्धते तपः' वैसे ही वे शबरी से पूछते हैं कि आपकी तपस्या का क्रम आगे बढ़ रहा है ना ? हृदय के अनावृत, निर्बंध, समभाव के बिना ऐसी वाणी थोड़े ही निकल सकती है।

यहां से आगे चलने पर उन्हें मिले वानर। वानरः वानरः। याने जिन्हें देख कर मन में संशय पैदा हो उठे कि ये नर हैं या नहीं। कदाचित न ये नर हो, न वानर। जब भरोसा न हो, तो यह अवस्था कैसी अवस्था है ? कहते हैं कि 'प्रेगनेंट विद मैनहुड' याने जिनके भीतर मनुष्य तो है, पर वह प्रकट होने की तैयार में है—ऐसे लोगों के साथ रामचंद्र जी ने भाईचारा स्थापित किया। वे इन्हें कहीं के कहीं ले गए और जाने कहां पहुंचा दिया। हनुमान जी जैसे को तो असंख्य आर्य-संतानों का आराध्य बना दिया। आज भी हम उन्हें स्मरण करते हैं।

मनोजवं मारुततुल्य वेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।

हम उन्हें बुद्धिमानों में श्रेष्ठ कहते हैं, पर पहली बार पम्पा सरोवर के समीप हनुमान जी सुग्रीव के सचिव के रूप में जब रामचंद्र जी के सामने बात करने आए थे, तब राम ने अनाविल वाणी में कहा था : 'हे लक्ष्मण ! वह वानर कितना खरा है, पर साथ ही कितना संभाषण-कुशल और वाणी-व्यवहार का ज्ञाता है ? ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद पढ़े बिना ऐसी व्याकरण-शुद्ध वाणी भला कौन बोल सकता है ?' उन्होंने हनुमान जी को संभाषण-कुशल, वाणी-व्यवहार का ज्ञाता असंदिग्ध, सविस्तरं, सत्यचारुवाणी वाला आदि नामों से पुकारा । इतना बड़ा प्रमाण-पत्र तो उन्होंने किसी ऋषि को भी नहीं दिया था ।

अयोध्या नामक नगर से शुरू करके अनेक नदियां पार करते-करते, अनेक भाषाओं, अनेक रीति-रिवाजों, अनेक जंगलों, अनेक पहाड़ों, अनेक वैविध्यों के बीच सपाट गंगा-यमुना के मैदान से निकल कर विंध्याचल, दंडकारण्य, पंचवटी, इससे आगे किष्किंधा, ऋष्यमूक, मलय होते हुए समुद्र के उस छोर तक जाकर रामचंद्र जी ने पूरे भारतवर्ष को अपने हृदय में भर लिया । वाल्मीकि की महान सेवा यह है कि उन्होंने भारतवर्ष को—आसेतु हिमाचल भारतवर्ष को अपनी कथा के केन्द्र में रखा है । उससे पहले जो कथाएं लिखी गई होंगी, तो वे स्थानीय अंचलों तक ही सीमित रही होंगी । वेदों में आता है कि पांच नदियों में लड़ाई हुई थी । सप्तसिंधु की बात भी आती है । उपनिषदों में भी नदियों की बात है पर राजा जनक के राज्य से आगे की बात नहीं है । कर्मनाशा नदी से आगे का विवरण ही नहीं मिलता । पर आसेतु हिमालय यह जो रमणीय देश फैला हुआ है, इसके बीच में कोई बाड़ नहीं है । इसमें रहने वालों को हम एक कैसे बनाएं ? रस्सी से बांध कर तो एक नहीं किया जा सकता । राजाओं की तलवारों से भी ऐक्य नहीं हो पाता । एकता तो केवल प्रेम की डोरी से ही संभव है । लेकिन प्रेम किसका, और किसके प्रति ?—उच्च वर्ग का निम्न वर्ग के प्रति प्रेम । निचला वर्ग भी बदले में उच्च वर्ग के प्रति प्रेम जताएगा । पर निम्न वर्ग वाले इस दिशा में पहल कदापि नहीं करेंगे । कारण यह है कि वे लोग भयग्रस्त हैं, उत्पीड़ित हैं, हीन समझे जाते हैं, तिरस्कृत और कुंठित हैं । वे भला उच्च वर्ग को कैसे प्रेम दे सकते हैं ?

सूरत जिले के किसी अच्छे से गांव में जाकर पहले जब कोई पूछता कि यहां कितनी आबादी है ? तो गरीब लोगों के झोंपड़ों को गिनती में

शामिल नहीं किया जाता था। बीस-पच्चीस वर्ष पहले की बात है यह। उनकी गणना गांव में नहीं की जाती थी। हम गांव में जाकर पूछेंगे तो वे दो-एक हजार बताएंगे। हम उनसे कहेंगे कि जब मैं तुम्हारे गांव से होकर निकला था, तब मुझे तो आबादी कुछ ज्यादा लगी थी। बाहर गरीबों की झोंपड़ियां भी तो सौ-एक होंगी। तो हमें सुनने को मिलेगा कि गरीबों को गिनती में कौन लेता है ? वे तो गणना में भी नहीं आते ! अब आप सौभाग्यशाली हैं कि सरदार वल्लभभाई पटेल, गांधीजी और जुगतरामभाई के पुण्य-प्रताप से परिवर्तन आया है। परिवर्तन कोई बहुत अधिक हुआ हो, वैसी बात तो नहीं है, पर परिवर्तन हुआ अवश्य है। यह परिवर्तन हमें रामचंद्रजी से दाय रूप में प्राप्त हुआ है। राम का नाम बापू की सांस-सांस पर था। रामचंद्र जी का लक्षण यही था कि निषाद, भील, शबर, वानर, किन्नर आदि जितनी भी जातियां हैं, सब यहां हिन्दुस्तान में रहती हैं अतः मुझे इन सबसे मेलजोल सुदृढ़ करना है। इससे हमें एक विशाल प्रेम-चित्र—कुटंब-कथा रचनी है। गीध जाति भी इससे अलग नहीं। जटायु भी राम के लिए बुजुर्ग है। सीता को उसके भरोसे छोड़ कर वन में जाते समय उन्होंने कोई विचार नहीं किया था। जटायु ने रावण से भयंकर युद्ध किया और वीरगति पाई। जब राम ने उसे देखा तो अंतिम क्षण में उसके शव का अग्नि-संसार किया। राम ने उसे अपने पिता की भांति स्नेह-आदर दिया था और विलाप करते हुए 'स्वबंधुमिव दुःखितः' दुखी हुए थे। लक्ष्मण से उन्होंने कहा था :

सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः।
शूराः शरण्याः सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि॥
सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य तथा मतम्।
यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परन्तपः॥
राजा दशरथः श्रीमान् यथा मम महायशाः।
पूजनीयश्च मान्यश्च तथाऽयं पतगेश्वरः॥

(अरण्यकांड 68/24,25,26,27)

वाल्मीकि ने तो पहले ही लिख दिया था कि मैं कोई भगवान की कथा कहने नहीं बैठा हूं—यह बात अनेक पाठकों को शायद पता नहीं है। उन्होंने लिखा था कि मैं तो ऐसे आदर्श पुरुष का चारित्रिक वर्णन करने बैठा हूं, जो नरश्रेष्ठ है, धर्म-धुरंधर है। ध्यान देने की बात है कि उन्होंने 'नर' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने इस विचार से रामायण का शुभारंभ किया ही नहीं, कि राम भगवान थे। तो मित्रो ! यह

वाल्मीकि का विचार है। इस विचार में दो बातें मुख्य हैं। एक तो यह, कि इस दुनिया को सुधारना हो तो पहली ईंट कुटुम्ब है। कुटुम्ब में कैसे सम्बन्ध होने चाहिए और एक-दूसरे के सुख-दुख में, मान-अपमान में कैसा व्यवहार किया जाना चाहिए, कुटुम्ब को भी क्रमशः विस्तारना चाहिए। दूसरी बात यह, कि अगर आपको इस देश में बड़ा आदमी बनना है तो इस देश की पिछड़ी जातियों के साथ गहरा मेलजोल स्थापित करना पड़ेगा। ऐसा नहीं करेंगे तो आप छोटे ही रहेंगे। वे भी छोटे रहेंगे। देश भी छोटा रहेगा। संस्कृति भी निम्न, संकुचित रह जाएगी और मानव जीवन का प्रयोजन प्रकट नहीं हो पाएगा।

❀

वाल्मीकि रामायण की एक अति मंगल अनुभूति उसकी प्राकृतिक सृष्टि के साथ पारिवारिक सम्बन्ध है। वृक्ष, पर्वत, नदियां, पशु, पक्षी मानो राम-सीता के परिजन थे। रामायण का सख्य मात्र शबरी, गुह, जटायु या वानर-समुदाय तक समाप्त नहीं हो जाता, वह गंगा, वटवृक्ष, पंचवटी, गोदावरी तथा विशाल वनराजि के साथ संकलित हुआ है।

कालिदास ने शाकुन्तलम् की नायिका शकुन्तला को हरिणों-वृक्षों के साथ परम सख्य भाव प्रदर्शित करते हुए चित्रित करके अद्भुत कलात्मक एकता व्यक्त की है। यह बात रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'प्राचीन साहित्य' में हमारे समक्ष प्रस्तुत की है।

पर कालिदास की प्रतिभा के बीज वाल्मीकि ने बोये हैं, यह बात वाल्मीकि रामायण पढ़ते समय समझ में आ जाती है।

जिस समय राम-लक्ष्मण-सीता नाव में बैठकर गंगा पार कर रहे थे, तब धारा के अधबीच में आने पर सीता ने विपुलवाहिनी जाह्नवी से हाथ जोड़ कर कहा था :

'हे त्रिपथगा भागीरथी! महाराज दशरथ के पुत्र और ये मेरे स्वामी रामचंद्र जी पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए वन में जा रहे हैं, अतः तू इनकी रक्षा करना। हे शुभगा गंगा! चौदह वर्ष पूरे होने पर वन में रहकर लक्ष्मण और मेरे साथ श्री राम जब सकुशल वापिस लौटेंगे, तो मैं अत्यंत प्रसन्नता के साथ तेरी पूजा करूंगी। हे देवि! तू मेरे सारे मनोरथ पूरे करना। पृथ्वी, उत्तम वस्त्रों और चावलों

से मैं तेरी पूजा करूंगी । तेरे तट पर प्रयाग, काशी आदि जो तीर्थस्थल हैं, उन सबका मैं पूजन करूंगी ।'

सीता ने ऐसी ही प्रार्थना यमुना पार करते समय की थी । यही नहीं, यमुना के उस पार खड़े जटाजूट विशाल वटवृक्ष की प्रदक्षिणा करते हुए सीता ने कहा था :

'हे महा वटवृक्ष ! मैं तुम्हें प्रणाम करती हूं । तुम मेरे पति की चौदह वर्ष तक वन में रहने की प्रतिज्ञा निर्विघ्न पूरी कराना ।'

नदी और वृक्ष मनुष्य से कोई अलग प्राकृतिक शक्ति नहीं है, अपितु वे हमारे लिए स्वजनों के समान सत्त्व हैं—हमारे सुख-दुख के साथी, भागीदार एवं हितैषी हैं ।

वर्तमान अतियांत्रिक विश्व ने प्रकृति एवं पशु-पक्षी-सृष्टि से हमें अलग करके एकाकीपन का जो महान संकट खड़ा कर दिया है, जिसे विद्वज्जन हमारे मनोस्वास्थ्य एवं समाजस्वास्थ्य के लिए आफत-स्वरूप मान रहे हैं, रामायण में उसका नामोनिशान तक नहीं है ।

पर ऐसी चित्तवृत्ति सीता ही धारण करती हो, ऐसा नहीं है । कौशल प्रदेश की सीमा पार करते समय धैर्य-मूर्ति राम भी कुछ विचलित होकर अयोध्या की तरफ मुंह करके कह उठते हैं :

'महाराज दशरथ के द्वारा परिपालित हे श्रेष्ठ पुरी अयोध्या ! मैं वन में जाने के लिए तुम्हारी और तुम्हारी रक्षा करने वाले समस्त देवताओं की आज्ञा मांगता हूं । अब तो जब मैं माता-पिता के ऋण से मुक्त होकर वन से वापस लौटूंगा, तभी तुम्हारे और अपने माता-पिता के दर्शन करूंगा ।'

रामचंद्र जी के लिए अयोध्या नगरी माता-पिता के समान थी । उसकी भी उन्हें आज्ञा मांगनी थी । उसकी भी विरह-व्यथा थी । समस्त प्रकृति के प्रति तादात्म्य वाल्मीकि में बार-बार ऋतुवर्णन, वनराजिवर्णन, तथा सरिता-शोभा वर्णन के रूप में उच्छ्वसित हो उठा है ।

वाल्मीकि की कवि-प्रतिभा जैसी इन वर्णनों में चमक उठी है, वैसी ही वार्तालापों, उपदेशों तथा युद्ध-वर्णनों में भी जगमगा उठी है ।

ये वर्णन पढ़े बिना वाल्मीकि का अध्ययन फीका है । कवि ने प्रकृति का जो रूप अंत:बुद्धि के रूप में आत्मसात् किया है, वह ऐसा है

कि पल भर के लिए चमत्कृत कर दे। प्रकृति वैभव की ऐसी हिलोरें उछलती हैं कि उनकी एकाध बानगी चखे बिना आगे बढ़ पाना असंभव है। रामचंद्र जी लक्ष्मण के समक्ष पंचवटी का ऐसा मनोहारी वर्णन करते हैं :

अयं देश: स्म: श्रीमान् पुष्पितैस्तरुभिर्वृत: ।
इहाश्रमपदं सौम्या यथावत् कर्तुमर्हसि ।।

इयमादित्य संकाशै: पद्मै: सुरभिगन्धिभि: ।
अदूरे दृश्यते रम्यो पद्मिनी पद्मशोभिता ।।

यथाऽऽख्यातमगस्त्येन् मुनिना भावितात्मना ।
इयं गोदावरी रम्या पुष्पितैस्तरुभिर्वृता: ।।

हंसकारंडवाकीर्णा चक्रवाकोपशोभिता ।
नातिदूरेन् चासन्ने मृगयूथनिपीड़िता: ।।

मयूरनादिता रम्या: प्रांशवो बहुकंदरा: ।
दृश्यंते गिरय: सौम्य फुल्लैस्तरुभिरावृता: ।।

सौवर्णै राजतैस्ताम्रैर्देशे देशे च धातुभि: ।
गवाक्षिता इवाभान्ति गजा: परमभक्तिभि: ।।

सालैस्तालैस्तमालैश्च खर्जूर पनसाम्रकै: ।
नीवारैस्तिशैनिश्चैव पुन्नागेश्वोपशोभिता: ।।

चूतैरशोकैस्तिलकैश्चम्पकै: केतकैरपि ।
पुष्पगुल्मलतोपेतैस्तंस्तैस्तरुभिरावृता: ।।

वन्दनैश्चन्दनैर्नीपै: पनसैर्लिकुचैरपि ।
घवाश्वकर्णखदिरै शमीकिंशुक पाटलै: ।।

इयं पुण्यमिदं मेध्यमिदं बहुमृगद्विजम्॰।
इह वत्स्याम सौमित्रे सार्धमेतेन पक्षिणा ।।

(अरण्यकांड सर्ग 15/10 से 19)

'हे सौमित्र ! यह स्थल सपाट और शोभामय है; पुष्पों, फलों, वृक्षों से आच्छादित है, अत: यहीं पर हम अपने लिए रमणीय निवास का निर्माण करें।

'हे भैया ! सूर्य की मानिंद तेजस्वी एवं पवित्र सुगंध वाले कमलों से शोभायमान तलैया भी यहीं पास है। पावन हृदय वाले अगस्त्य ऋषि

ने जैसा बताया था वैसा ही है यह स्थान। फलों-फूलों वाले वृक्षों से जिसका तट आच्छादित है तथा हंस, कारंडव, चक्रवाक आदि पक्षी और मृग जिसकी सेवा करते हैं, ऐसी रमणीय गोदावरी भी न यहां से अधिक दूर है, न अधिक समीप है। हे लक्ष्मण, जिसके शिखरों पर मधुर टहूका करते मयूरों वाले ऊंचे, प्रफुल्ल पुष्पों से शोभायमान वृक्षों से घिरे पर्वत चारों ओर खड़े हैं, ये पर्वत सोने, चांदी, ताम्बे आदि धातुओं से भरे हुए होने के कारण ऐसे लगते हैं मानो नीले, पीले, लाल रंगों से चित्रित हाथी हों। इन पर्वतों पर सुगंध से महकते पुष्पों से ठसाठस लदे-फदे, अनेक प्रकार की लताओं से आवृत्त असंख्य वृक्ष सुशोभित हो रहे हैं। साल, ताल, तमाल, खजूर, पनस, जलकदंब, तमर, सुपारी, आम, अशोक, तिलक, केवड़ा, चंपा, सुखड़, चंदन, कदंब, करंज, बकुल, धावड़ा, अश्वकर्ण, खेर, खेजड़ा, खाखरा, रोहिड़ा आदि वृक्षों से पर्वत अत्यंत रमणीय लगते हैं। समस्त पशु-पक्षियों से भरा हुआ यह स्थल हर तरह से रमणीय और पवित्र है। अतः पक्षीराज जटायु के साथ हम यहीं निवास करेंगे।'

इससे अगले अध्याय का हेमंत ऋतु का चित्रात्मक, चित्ताकर्षक वर्णन लक्ष्मण के मुँह से सुनना ही अच्छा लगता है, और पुष्पक विमान में से ऋष्यमूक, किष्किन्धा, पम्पा, जनस्थान, पंचवटी, प्रसन्नसलिला, गोदावरी, यमुना, चित्रकूट आदि के बारे में सीता को बताते-बताते राम मानो इन सब के साथ एकरस हो गए हैं। यही नहीं, इसी एकरसता में हम सबका भी सहजतया संक्रमण हो जाता है।

नारदजी का वरदान है कि वाल्मीकि का यह रामायण ग्रंथ तब तक पढ़ा जाएगा जब तक ये पर्वत अडिग रहेंगे और नदियां बहती रहेंगी, क्योंकि यह ग्रंथ आंतरबाह्य दोनों रूपों से सुन्दर है और काल भी सुन्दर का नाश नहीं कर सकता, क्योंकि वह अनश्वर है।

आदिकाव्य इदमार्षं
पुरा वाल्मीकिना कृतम्।
यां शृणोति यदा लोके
नरः पापात् प्रमुच्यते ॥

□

# रामचरित मानस

वेद मत सोधि-सोधि, सोधि के पुराण सबै
संत और असंतन को भेद को बतावतो ।।
कलि के कुराही, कूर, कपटी कुचाली जीव
कौन राम-नामहू की चरचा चलावतो ।।
'बेनि' कवि कहै मानो-मानो हो प्रतीति यहै
पाहन हियै में कौन प्रेम उपजावतो ।।
भारी भवसिन्धु तैं उतारतो कवन पार
जो पै यह रामायण तुलसी न गावतो ।।

# रामचरित मानस

वाल्मीकि रामायण के बारे आपके समक्ष में बोलते हुए मैंने ऐसी प्रस्थापना की थी कि वाल्मीकि रामायण के लेखन का एक प्रमुख प्रयोजन यह प्रतीत होता है कि उस काल में दक्षिणापथ में जो उन्मत्त और उद्धत शक्ति दंडकारण्य में ठेठ चित्रकूट तक उभरी हुई थी और राक्षसी आचार-विचार का विस्तार हो रहा था, उस शक्ति को एक स्वस्थ और संयत शक्ति के द्वारा बढ़ने से रोका जाय।

ईसा से तीन-एक हजार वर्ष पूर्व वाल्मीकि ऋषि ने अपनी यह मौलिक रचना की थी। उसके बाद इसी रामायण के अलग-अलग भाषाओं में विविध रूप हुए। बंगाली भाषा में कृत्तिवास और तमिल में कंबन की रामायण प्रसिद्ध हैं। इनमें से अगर कोई सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ हुआ है, जिसमें अपनी मौलिक प्रतिभा की उद्‌भावना करके लगभग नया ही ग्रंथ सृजित किया गया हो, तो वह है गोस्वामी तुलसीदासजी का 'रामचरितमानस'। हिन्दुस्तान में, विशेष रूप से सम्पूर्ण उत्तरी भारत में अगर कोई ऐसा ग्रंथ है, जो हर घर में पढ़ा जाता है और मनुष्य के चरित्र-निर्माण के लिए जिसे मार्गदर्शक ग्रंथ के रूप में सम्मान दिया जाता है तो वह तुलसी रामायण ही है। हालांकि गोस्वामीजी ने स्वयं कहा है कि 'इसमें मेरा कोई पुरुषार्थ नहीं है। किसी महापुरुष के द्वारा बनाये गए पुल पर अगर चींटी भी चल देती है तो इसमें चींटी की क्या बड़ाई ? वाल्मीकि ऋषि ने रामायण लिखी और मैंने प्राकृत में उसका सार लिख दिया, उसको दोहन किया या उसकी महिमा को प्रकट किया है तो यह चींटी जैसा ही मामूली काम है।'

अति अपार जे सरित बर जे नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहिं जाहिं ।।

— बालकांड-13

पर सचमुच में ऐसा है नहीं। महात्मा गांधी ने अपने जीवन में गीता के बाद अगर किसी अन्य कृति का अधिक से अधिक पारायण किया

है, या अधिक से अधिक जिस पर वे आधारित रहे हैं, वह तो यही तुलसी रामायण है । पर तुलसीदासजी के अपने जमाने में भी जबकि यह ग्रन्थ बहुत विख्यात नहीं हुआ था, तब भी जहांगीर और अकबर के दरबार में जिसका आयुष्य व्यतीत हुआ था, ऐसा एक कवि और सेनापति था—अब्दुर्रहीम खानखाना । यह कवि भी एक अद्भुत विभूति था । जो कुछ भी कमाता था, उससे अधिक दान में दे देता था । नामी दानवीर था । एकदम औलिया आदमी । दान देते समय वह नीचे की ओर देखने लगता था । यानी उसकी नजरें झुकी हुई रहतीं । इसलिए किसी ने पूछ लिया: 'क्यों खानखाना ! दान देते समय आप शरमा कर नीचे की ओर क्यों देखने लगते हो ?' इस पर उसने कहा : 'मेरे भाई ! लेने वाला और है, देने वाला और !' मैं तो हूं भी नहीं । लोग मुझको दानवीर समझते हैं । कहते हैं कि दान मैं देता हूं । इसी बात की तो शरम आती है मुझे । बस इसी वास्ते देते समय नीचे देखने लगता हूं । तुलसीदासजी और रहीम दोनों मित्र थे । एक बार तुलसीदासजी ने एक दोहे की एक पंक्ति लिख कर रहीम के पास भेजी और कहलाया कि इसे पूरी कर दें । पंक्ति यह थी :

'सुरतिय, नरतिय, नागतिय सब चाहति अस होय ।'

यानी देवताओं, मनुष्यों, नागों की पत्नियां यही चाहती हैं कि.... अब अगली बात आप पूरी कर दें । इस पर रहीम ने निम्न पंक्ति लिख कर भेजी :

'गोद लिये हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय ।'

देखिए, देव-स्त्रियां, मानव-स्त्रियां, नाग-स्त्रियां क्या चाहती हैं ? 'हमारी गोद में तुलसी जैसा बेटा हो ।' हुलसी फिरै—'हुलसी' तुलसी की मां का नाम था । इसलिए यह नाम भी जोड़ दिया और 'हुलसी' यानी उल्लसित—उल्लासपूर्वक बालक को गोद में लेकर रमाने की इच्छा । तुलसी जैसा बालक हो, ऐसा इस संसार की, सुरलोक और नागलोक की सभी स्त्रियां चाहती हैं । इसलिए तुलसीदासजी की महिमा आज भी है और कल भी बनी रहेगी ।

फिर भी उनके मन में अभिमान नहीं था । उनके मन में क्या भाव थे ? 'तुलसी तुलसी क्या करौ, तुलसी बनी की घास ।' याने मेरा नाम ले लेकर मेरा मान-सम्मान क्यों कर रहे हैं ?

तुलसी-तुलसी क्या करौ तुलसी बन की घास ।
कृपा भई रघुनाथ की सो बन गए तुलसीदास ।।

अरे भाई ! यह तो मुझ पर भगवान की कृपा हो गई है कि मैं 'तुलसिया' अब तुलसीदास हो गया हूं। उठाये न उठ सके, ऐसा हो गया हूं। लेकिन किसके लिए ? — मेरे अपने लिये नहीं, भगवान के लिये ! जो व्यक्ति आध्यात्मिक मनोवृत्ति वाला होता है, वह जितना अधिक आध्यात्मिक होगा उतना ही अधिक नम्र। क्योंकि अध्यात्म आखिरकार पचाया भी गया है या नहीं, इसका एक ही लक्षण है— अहंकार का विलय। अहंकार समाप्त हो गया, रहा भी नहीं :

'जब मैं था तब हरि नहीं
अब हरि हैं मैं नाहिं।'

अर्थात् जब मेरे भीतर 'मैं' ही 'मैं' था, तब तक मेरे पास 'राम' थे भी नहीं। राम मेरे पास तब नहीं फटकते थे। वे कहते थे कि जब तक 'मैं-पना' है तब तक उनके आने का क्या काम ?

प्रेम गली अति सांकड़ी
तामे दोउ न समाहिं ।।

यानी यह प्रेम की पगडंडी बहुत संकड़ी है, इसमें दो जने साथ-साथ नहीं चल सकते। यह अवस्था प्राप्त करना कठिन है, क्योंकि—

जहां राम तहँ काम नहिं
जहां काम नहिं राम।
तुलसी कबहुं न रहत है
रवि - रजनी इक ठाम ।।

जहां राम आये नहीं, कि तमाम कामनाएं समाप्त हो गईं। पर जहाँ कामनाओं का राज्य होगा, वहाँ राम नहीं होंगे। हे तुलसी, क्या सूर्य और रात्रि, प्रकाश और अंधकार दोनों साथ-साथ रह सकते हैं ? मैं और भगवान भी दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते। अब्दुल रहीम खानखाना ने भी कहा है :

अब रहीम मुश्किल पड़ी, गाढे दोऊ काम ।
सांचे से तो जग मिलै, झूठे मिलै न राम ।।

रहीम कहते हैं कि कैसी मुश्किल आ पड़ी है मेरे सामने ? मैं राम को पकड़ने जाता हूँ तो दुनिया मेरे साथ नहीं रहती, और अगर दुनिया को पकड़ता हूँ तो राम मेरे साथ नहीं रहते।

अब जरा तुलना करके देख लें—'प्रेम गली अति साकड़ी तामे दोउ न समाहिं।' बाइबल भी यही कहती है कि 'तुम मुझको और धन को

एक साथ नहीं रख सकते।' तुम दो मालिकों की नौकरी नहीं कर सकते। (यू केन्नोट सर्व टू मास्टर्स।) या तो तुम भगवान की चाकरी कर सकते हो, या शैतान की। इसलिए अगर धन का लोभ है तो तुम उसकी चाकरी करो, फिर मुझे नहीं रख सकोगे। दोनों साथ नहीं रह सकते। 'गाढ़े दोऊ काम'— ऐसे दुष्कर संग्राम में भी तुलसी पार उतर गए। बोले : 'कृपा भई रघुनाथ की।' उनका अहंकार शून्यवत् हो गया।

तुलसीदासजी ने इस महान ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहा है : 'कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहहुं लिखि कागद कोरे॥' ........ 'भाषा भनिति भोरि मति मोरी' यानी काव्यशास्त्र में जो छंद, अलंकार, उपमा, पद-लालित्य आदि होते हैं, उनका मुझे कतई ज्ञान नहीं है। मेरी बुद्धि तो अत्यंत तुच्छ है। गोस्वामीजी को छंद और काव्यशास्त्र का ज्ञान न हो, यह कैसे हो सकता है! पंडित मधुसूदन सरस्वती ने रामचरितमानस पढ़ने के बाद एक श्लोक में कहा था कि—

आनंदकानने ह्यस्मिन् जंगमस्तुलसीतरुः।
कवितामंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

अर्थात् साहित्य और काव्य के इस आनंद-वन में तुलसी एक चलता-फिरता वृक्ष है। उस कविता-वन में रसलोभी राम रूपी भ्रमर गुंजार कर रहा है। यानी ऐसा आनन्द-कानन है कि जहां आने को राम का भी मन ललचा जाए। पर गोस्वामीजी की नम्रता गलत नहीं है। उनकी नजरों के सामने आदिकवि महर्षि वाल्मीकि की प्रतिभा-सम्पन्न महान कृति विद्यमान है। इसीलिए वे कहते हैं— 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' या 'कवि न होउं नहिं वचन प्रवीना'। यानी उनके हृदय की विनीत भावना फिर से उन्हें इंगित करती है कि जिस ग्रन्थ का विद्वानों के बीच सम्मान न हो, तो वह कैसा काव्य-ग्रन्थ?

तुलसी ने अपने रामचरित मानस की पीठिका जैसी प्रारम्भ में बांधी है, वैसी किसी अन्य ग्रन्थ में बांधी गई हो, इसकी मुझे जानकारी नहीं है। उसमें काव्य किसे कहते हैं; काव्य की महिमा कितनी महान है; काव्य का आराध्य कौन होना चाहिए; काव्य के निर्णायक तत्त्व कौन-कौनसे होते हैं—इन मूलभूत प्रश्नों की अत्यंत मधुरता, विवेक एवं अक्षुण्ण श्रद्धा से मीमांसा की गई है। साहित्य-रस पीने वालों के लिए तो उसमें अमृत छलकता है। गोस्वामीजी प्रारम्भ में कहते हैं कि मुझमें कोई काव्य-प्रतिभा नहीं है। मैं तो बस एक ही प्रतिभा के बल पर चलता रहा हूं,

और वह है रामभक्ति। 'जदपि कवित रस एकउ नाहिं। राम प्रताप प्रकट एहि मांहि।। सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंग बड़प्पनु पावा।।' लेकिन फिर भी ऐसी कृति का विद्वानों में सम्मान तो होना ही चाहिए।

जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं।
सो श्रम बादि बाल-कवि करहीं।।

जिस काव्य का ज्ञानी और विद्वान लोग सम्मान नहीं करते, उसको रचने की मेहनत नासमझ कवि ही करता है। इसलिए जिसे हम 'एलीट क्लास' कहते हैं, वे लोग गोस्वामीजी महाराज की उपेक्षा नहीं कर सकते। उन्होंने 'भाषा' में लिखा था, यानी जो संस्कृत नहीं अपितु लोक-भाषा थी। इस कारण से उनके मन में चिंता थी कि पंडित लोग मेरी कृति का सम्मान करेंगे या नहीं।

पर 'क्लास' की तरह 'मास' भी होता है यानी विशाल जन-समुदाय। गोस्वामीजी को उसकी भी चिंता है। इसीलिए कहते हैं: 'बुध-विश्राम—लोक-मन रंजन।' कृति बुद्धिमानों की जिज्ञासाओं यानी प्रश्नों का उत्तर दे, लोगों के हृदय में उल्लास पैदा करे, लोक-समूह के पास पहुंच कर उन्हें भाव-रस से नहलाने में सक्षम हो। तभी तो उन दिनों की लोकभाषा में यह महाकाव्य रचने की प्रतिज्ञा उन्होंने की थी:

क्या भाषा, क्या संस्कृति, भाव चाहिए सांच।
काम जु आवै कामरी, क्या करि सकें कुमाच।।

यानी लोकभाषा हो या देवभाषा, मूल बात तो यह है कि उसमें सच्चा भाव होना चाहिए, अगर मोटी-झोटी कम्बल से काम निकलता हो तो महंगी-मुलायम शाल लेकर क्या करना है?

कितनेक लोग शाल-दुशाले ले पाते हैं! तुलसी को तो राम का नाम जन-जन तक पहुँचाना है— राम, जो धर्मरक्षक हैं; धर्म-सेतु हैं; राम, जो भक्त-वत्सल हैं; राम, जो अशरण-शरण हैं।

इसीलिए प्रारम्भ में उन्होंने हाथ जोड़ कर कहा था कि मेरी कविता में कमिया होंगी, पर इसमें एक ऐसा गुण है कि जो तमाम कमियों को भुला देता है।

'भनिति मोरि सब गुन रहित
बिस्व विदित गुन एक।'

कौनसा गुण ?

एहि महं रघुपति नाम उदारा ।
अति पावन पुरान श्रुति सारा ।।
मंगल भवन अमंगल हारी ।
उमा सहित जेहि जपहिं पुरारी ।।

इस एक गुण की वजह से मेरी कविता बुध-विश्राम, लोक-मन रंजन हो जाएगी । उनका विश्वास था कि उनकी काव्य-साधना का विषय ऐसा अप्राकृत, असामान्य और अद्भुत है कि सरस्वती भी उसके पीछे-पीछे चली आएगी । उन्हें पूरा विश्वास है कि सरस्वती को तो प्राकृत-जनों का गुणगान करने में मजा ही नहीं आता । प्राकृत यानी प्रकृति के वशीभूत होकर जीवन बिताने वाले । प्रकृति के दास तो वे हैं ही, उसमें करना ही क्या है ? पैट्रोल से गाड़ी चलाई जाती है, तो इसमें गाड़ी का क्या पुरुषार्थ ? प्रकृति को संस्कृति करता है आत्मतत्त्व, आत्मविवेचन, आत्मशोधन । इसीलिए उन्होंने लिखा है :

कीन्हें प्राकृति जन गुणगाना ।
सिर धुनि गिरा लाग पछिताना ।।

अर्थात् धन, सत्ता, देह, गेह के मोह में रचे-पचे रहने वाले लोगों को, तथा इसी मंशा से सरस्वती को बेच खाने वाले कवियों को देख कर सरस्वती सिर धुनती हुई पश्चात्ताप कर रही है ।

जामनगर के राज दरबार में एक बार युवा चारण ईसरदान जाकर खड़ा रहा— लाख पसाव की आशा में । कवित्त पर कवित्त सुना कर उसने राजसभा को दोलायमान कर डाला । उपमा अलंकारों की मानो तारा-वृष्टि होने लगी । जामनगर का राजा मानो द्वितीय इन्द्र, द्वितीय कर्ण—जाने क्या-क्या उसने अपनी कवितावलि में कह डाला । जाम साहब की छाती फटने लगी, 'वाह कवि । वाह कवि !' के स्वर गूंजने लगे । पर राजा का गुरु पीतांबर नकार में सिर हिला रहा था । नहीं, नहीं, इस कवि को लाख पसाव नहीं दिया जा सकता ।

जाम की इच्छा थी खूब देने की, पर पीतांबर गुरु ने सिर हिला दिया इसलिए बात आई-गई हुई ।

युवा ईसरदान पर काल सवार हो गया । इस ब्राह्मण ने मुझे लाख पसाव से रोक दिया । आज रात को इसकी बात । जब वह रात को हत्या करने आया तो इधर पति-पत्नी के बीच बातचीत चल रही थी ।

पत्नी ने पूछा : 'सब लोग कहते हैं कि आपको उस युवा कवि से ईर्ष्या थी, इसलिए आपने इनकार कर दिया। अन्यथा जाम साहब उसे लाख पसाव दे देते।' पीतांबर जी कहने लगे : 'तुम्हारा सोचना सही है। ईसरदान की कविता सुनकर मुझे कैसा लगा था, बताऊं ? ओहोहो, ऐसा कवि तो सदियों में पैदा होता है। अरे, कविता तो उसके आगे नृत्य करती है। मानो सरस्वती उसकी जीभ पर आकर बैठ गई हो। ऐसा कवि कहां पड़ा है ?

'लेकिन फिर लगा कि ईश्वर के द्वारा दी गई ऐसी शक्ति का चंद कपड़े और जमीन हासिल के लिए एक सांसारिक राजा के सामने खुशामद में अपव्यय करना ? इतनी खुशामद या इतना काव्याभिषेक अगर भगवान के लिए किया जाता, तो वह निहाल हो जाता, निहाल ! भगवान ने क्या यह दान पांच-पचास गांव के मालिक को रिझाने के लिए उसे प्रदान किया है ? बस, यह बात सोचते ही मैंने सिर हिला दिया।' कहा जाता है कि ईसरदान ने तलवार फेंक दी और गुरु के पैरों में जा गिरा।

कीन्हें प्राकृत जन गुणगाना।
सिर धुनि गिरा लाग पछिताना।।

क्या पीतांबर गुरु ने 'स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' वाली पंक्ति पढ़ी थी ?

तुलसी की दो ही प्रतिज्ञाएं हैं :

राम का आराधन, और वह भी लोकभाषा में आराधन ! भले ही उससे कदाचित् कविता थोड़ी कम होती हो ! उन्होंने लिखा है :

स्याम सुरभि पय बिसद अति
गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस
गावहिं सुनहिं सुजान।।

यह जो मेरी लोकभाषा है, यह रंग में काली गाय जैसी है। पर इसका दूध बहुत अच्छा है। गुणवान लोग इसे अवश्य पीयेंगे। यह मेरी लोकभाषा सरल और सुस्पष्ट है। इसे एक विषय मिल गया है—सियराम यश। राम-सीता के यश का सत्संग।

गोस्वामी जी को सत्संग पर बहुत विश्वास है। सत्संग से कैसे-

कैसे परिवर्तन हो जाते हैं, इसका उदाहरण देते वे थकते तक नहीं :

सठ सुधरहिं सत संगति पाई ।
पारस परस कुधात सुहाई ।।

चौपाई प्रसिद्ध है कि वाल्मीकि तो नारद के संग से महर्षि बने ही, पर जामवंत, हनुमान, अंगद, विभीषण आदि और कितने गिनाऊं ? और तो और, पवन की सोहबत में धूल भी आकाश तक जा पहुंचती है । सज्जनों के घर में तो तोता-मैना तक सद्वाणी बोलते हैं ।

'तो मेरी कविता को अगर राम-सीता की संगति मिल जाएगी, तो उत्तम कैसे नहीं हो पाएगी ? गोस्वामी जी का यह विश्वास अकारथ नहीं गया—यह बात सभी कवि एवं रसिकजन स्वीकार करते हैं। 'मानस' बुध-विश्राम—लोक-मन रंजन बन पड़ा है ।

किसी महान ग्रंथ की रचना कवि की अन्तश्चेतना की मांग के कारण होती है, पर वह प्रचलित होती है अन्य कारण से । उसका मुख्य कारण होता है तात्कालिक समाज की आवश्यकता अथवा मांग । जब मलेरिया चारों ओर फैल जाता है तो लोग कुनैन लेने लगते हैं । चारों तरफ कुनैन, कुनैन, कुनैन के स्वर गूंजने लगते हैं । कुनैन तो पहले से थी ही, लेकिन उसके व्यापक बनने का कारण था मलेरिया । इसी तरह तुलसी रामायण भी घर-घर में बंचने लगी और सदियों तक बंचती रही । इसके व्यापक होने का कारण था उस समग्र काल की परिस्थिति । उस समय की परिस्थिति का जो चित्र है अगर वह हमारे सामने आ जाए तो तुलसी रामायण के ऐतिहासिक योगदान को समझने में बहुत सहायता मिलेगी । वह चित्र क्या है ?

तुलसीदास जी मुस्लिम युग में पैदा हुए थे । तुर्क, पठान, मुस्लिमों का आक्रमण यहां 11 वीं 12 वीं सदी में शुरू हुआ । धीरे-धीरे उनका विस्तार होता गया । वे जीतते गए । इससे उनकी उन्मत्तता भी बढ़ती गई । जैसी रावण की थी, वैसी ही उन्मत्तता । कोई उन्हें पूछने वाला नहीं था । न कोई रोकने-टोकने में समर्थ था । देवता नष्ट हो रहे थे, मूर्तियां खंडित की जा रही थीं । मथुरा में मूर्तियों के टुकड़े करके विधर्मियों की दुकानों पर तौलने के बाट बना लिये गए थे । कहीं मूर्तियों को मस्जिदों के अंदर सीढ़ियों की जगह चुना गया था । कोई सुरक्षित न था । स्त्रियों के अपहरणों—अत्याचारों से लोक परेशान हो

चुका था। ऐसी थी वह परिस्थिति ! इसी की वजह से रामचरितमानस का अत्यधिक मान हुआ।

नानक तो सिक्ख गुरु थे। वे मूर्तिपूजक नहीं थे। बाबर के समय में जन्मे थे। जब बाबर हिन्दुस्तान में आया था, उन दिनों वे पंजाब में थे। बाबर की फौजों ने उन्हें पकड़ लिया था और उनसे अनाज पिसवाया था। मारकाट, लूटपाट करते-करते बाबर की फौजें आगे बढ़ती गईं। उसके अत्याचारों पर नानक ने अत्यंत मार्मिक भजन लिखे हैं। पर वे भजन बहुत व्यापक नहीं हो पाए। लोग उनके बारे में ज्यादा नहीं जानते। आश्रम भजनावली में उनके और भी कई भजन हैं। नानक जैसे संत को भला इस संसार से क्या लेना-देना ! लोगों की पीड़ा देख कर उन्होंने क्या मार्मिक भजन लिखा था। वे भगवान से कहते हैं :

'खुरासान बाबर के वतन की तूने रक्षा की।' ये भक्त शरणागत अवश्य थे, पर इनकी भी अपनी शर्तें थीं। अपने आराध्य को भी ये कड़े सवाल पूछने से नहीं चूकते।

वे कहते हैं : 'खुरासान बाबर के वतन की तूने रक्षा की, पर हिन्दुस्तान के हृदय को तूने विदीर्ण कर डाला। बाबर के रूप में स्वयं यमराज को तूने भेजा। भयानक कत्लेआम ! हे मेरे अन्नदाता ! क्यों लोगों की आर्त्त चीखों ने तेरे मन में कोई दया नहीं जगाई ? अरे विधाता ! तू तो सार्वभौम रक्षक है तमाम मनुष्यों का, जरा विचार तो कर। एक बली दूसरे बली पर वार करे तो उसका किसी को क्या दुख ? पर बेचारी भोलीभाली भेड़ पर कोई भयानक भेड़िया झपट्टा मारे तो क्या उस समय उसका रक्षक चुपचाप बैठा देखता रहे ? बता क्या जवाब है तेरा ?' वे भगवान की दाढ़ी को हचमचाते हैं : 'तू कैसा मालिक है ? उस समय तू क्या करता है ? जवाब तो दे ? रत्न जैसा प्यारा राज्य तबाह हो गया। कुत्ते का राक्षसी दाढ़-जैसा पैना झपट्टा ! कोई आंसू तक नहीं बहाता इस हरकत पर ! फिर भी हे विधाता। तू निर्लेप कैसे है ? जिन नारियों की मांगों में सिंदूर भरे हुए थे, उनके केश काट डाले गए। माथे में धूल भर दी गई। महलों में सुख से रहने वाली बहुएं सड़कों पर भीख मांग रही हैं। है कोई शरम ? धन्य है तू !'

मौका आने पर जो भक्त अपने भगवान को फटकार तक लगा दे, उसको मैं वीर भक्त मानता हूं। जो भगवान के सामने जी हां, जी हां

करे, वह भक्त नहीं है। वह तो जी हां-जी हां कहने की वजह से संसार-लिप्सा के क्षेत्र में—राजनीति में भी मनुष्य को पूर्ण-मुक्ति का 'कॉल' देने वाले अध्यात्म क्षेत्र में गंदा लगता है। जब न समझे तो भगवान को भी फटकारा जाना चाहिए। और भगवान को खुश होना चाहिए। अगर वह सच्चा मालिक है तो कहेगा—'यह है मेरा एक सच्चा सेवक ! यह मुझसे भी पूछताछ करता है, मुझे भी सावधान करता है।'

नानक कहते हैं : 'धन्य है तू ! कौन जान सकता है तेरी लीला ? मुंडे हुए सिर वाली ये नारियां हैं, विवाह के समय कैसी सुन्दर लगती थी ! गजदंत की पालकियों में बैठकर जब ये पति के साथ श्वसुर-गृह में आई थीं, तब पवित्र जल से भरी गागरों से इनके सिर अभिसिंचित किये गए थे। इनके माथे पर सुन्दर पंखे झलते थे। गृह-प्रवेश के समय एक लाख मुहरें उछाली गई थीं और दूसरी एक लाख मुहरें उस समय उछाली जाती थी जब ये मां बनती थीं। जिस आसन पर बैठतीं, वही शोभायमान हो जाता था। इनके गले में रस्सियां डाल कर पशु की तरह खींच रहे हैं ये लोग। गले के हार टूट गए हैं, मोती बिखर गए हैं, इनका सौंदर्य ही आज इनका दुश्मन बन गया। बर्बर सिपाहियों ने इन्हें बंदी बना कर इनकी लाज लूटी। कई तो मर मिटीं हमेशा-हमेशा के लिए और जो बच गईं वे रो रही हैं। मनुष्य कितना बेसहारा है नानक।'

पर बाबर तो थोड़ा-बहुत संस्कारी था। वह ठहरा कवि। पर उससे पहले जो आए थे, अल्लाउद्दीन, मुहम्मद तुगलक, फिरोजशाह, तैमूर लंग आदि, उनके जुल्मों की तो सीमा ही नहीं थी।

अकबर के समय में भी स्थिति में बहुत अन्तर नहीं आ पाया था। स्थिति कुछ बदली थी, पर मूलत: नहीं बदल पाई थी। मुल्ले-मौलवियों ने अकबर की चलने न दी। और अंतत: औरंगजेब ने अकबर को गहरे में दफना दिया। इतिहास साक्षी है कि अकबर के द्वारा स्थापित दीने-इलाही धर्म में उसको पूरे एक दर्जन आदमी भी नहीं मिल पाये थे। बात अकबर की प्रामाणिकता की नहीं है, लेकिन परिस्थिति खास नहीं बदली थी। इसीलिए तुलसीदास जी को लिखना पड़ा था, कि कैसी स्थिति है इस समय ?

'खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि....'

किसान को खेती का ठिकाना नहीं और भिखारी को भीख नहीं मिलती। न नौकरी चाहने वाले को नौकरी मिलती, न व्यापारी को व्यापार मिल पाता। लोग बेचारे दुख के मारे आपस में कहते हैं : 'कहां जाएं? क्या करें?' तुलसी कहते हैं कि दरिद्रता के मारे लोग दबे जा रहे हैं—करें तो क्या करें? तुलसी हाहाकार करते हुए कहते हैं, 'हे दीनबंधु! यह तू क्या कर रहा है?'

और राज-काज करने वाले कैसे हैं?

गोंड, गंवार नृपाल महि, यवन महा महिपाल।
साम दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल॥

राजा लोग गंवार हैं। असली राजाधिराज यवन हैं, जो अपना उल्लू सीधा करने के लिए साम, दाम, भेद के तरीके काम में नहीं लाते, अपितु उनका एक ही साधन है—'केवल दंड कराल।' यह है भारतवर्ष का तात्कालिक चित्र—तुलसीदास जी के जमाने का। इसके सामने क्या किया जा सकता है? वाल्मीकि ने तो कह दिया था कि राजमहलों में रहने वाले राजकुमारों को वन में भेजा जाए। वन में तुम लोग सबसे मित्रता स्थापित करो—शबरों से मैत्री गांठो, निषादों से मित्रता गांठो, भीलों से मित्रता गांठो, वानरों से मित्रता गांठो, रींछों से मित्रता गांठो और राक्षसों में विभीषण जैसे हों तो उनमें मित्रता गांठो। राक्षसों से हमें कोई हर्ज नहीं है। हमें एतराज है तो राक्षसी मनोवृत्ति से।

वाल्मीकि की इस बात को तुलसी ने बराबर सहेज कर रखा है। उनको हिन्दू धर्म को दुर्बलता और सबलता का पता है। उन्होंने देखा है कि हिन्दू समाज अनेक तरह के पंथों और भेदों में बंटा हुआ है, अनेक तरह की बाड़ों के कारण यह भारतवर्ष टुकड़ों में विभक्त हो गया है। रवीन्द्रनाथ ने एक स्थान पर लिखा है कि 'हिन्दू धर्म की यह एक विचित्र विशेषता है कि इससे बाहर जाने के तो अनेक रास्ते हैं, लेकिन इसके अंदर आने का एक भी रास्ता नहीं है।' महान कवि ठहरे, एक ही वाक्य में सम्पूर्ण इतिहास को समेट लिया। कुछ पूछने को भी नहीं रहा हमारे लिये। इस हिन्दुस्तान के समाज से तो बाहर जाने के बहुत से द्वार हैं, अंदर आने का एक भी द्वार नहीं। जबकि मुस्लिम धर्म में सबके लिए आने के सब द्वार खुले थे। सिर्फ आने के ही नहीं, आगे बढ़ने के भी। मुसलमानों में एक गुलामवंश हुआ है। दिल्ली की गद्दी पर एक के बाद एक गुलाम बैठे, पर बादशाह का बेटा नहीं बैठा। गद्दी पर बैठे गुलाम

हो। सुबुक्तगीन सबसे पहला था। गुलाम में अगर लियाकत होती थी तो वह बादशाह बन जाता था। यह बात हिन्दू समाज ने पहले-पहल देखी और फिर तो अनेक लोग मुसलमान हो गए।

एक प्राचीन संस्कृति एवं समाज का निर्दयी हमलावरों के हाथों निर्दलन हो रहा था और प्राचीन संस्कृति एवं समाज होते हुए भी वह हारता जाता था। ई. स. 1020 से लेकर ठेठ शिवाजी के राज्यारोहण तक के 600-625 वर्ष के इतिहास के पन्ने पलट जाइए। हार और हार के अलावा किस्मत में कुछ और लिखा हुआ दिखाई भी नहीं देता। सैंकड़ों-हजारों वर्ग मील का क्षेत्र आक्रामकों के हाथों पड़ता ही गया। गंगा-जमना, शोण-गंडकी, ताप्ती-नर्मदा, गोदावरी-कृष्णा नदियों, अरावली-विंध्याचल, सतपुड़ा, मैकल कहीं भी जूझने के लिए बीच में डटकर खड़े होने की कोशिश नजर नहीं आती।

यह बात नहीं है कि हिन्दू लड़ते नहीं या लड़े नहीं। राजपूतों के केसरिया और राजपूतानियों के जौहर ने उन्हें कहीं नहीं बचाया। सवाल शूरवीरता का नहीं था, कुछ और था। और वह था हिन्दू-समाज की एकता का। जातीय अभिमान में अपने ही अंगों का विच्छेद करता-करता हिन्दू समाज खुद चकनाचूर हो गया। ऊंचे कर्म करने की किसी को नहीं पड़ी थी। भले ही कर्म नीचे हों, पर अगर ऊंचे कुल में जन्म हुआ हो तो पर्याप्त था। निम्न कुल वाले ऊंचे कर्म कर नहीं सकते थे, करें तो पाप लगे। शूद्र वेद सुन भी नहीं सकता था। सुन ले तो दंड मिले*। सिर्फ चार वर्णों की उच्चता-निम्नता नहीं थी। अनेक जातियां, उप जातियां, शूद्र, निम्न शूद्र, डोम, चांडाल, अति शूद्र, बुनकर, पिंजारे, वनवासी—सब अलग-अलग। अस्पृश्यों के भी उप भेद थे। यही बात धर्म में थी। शिव, विष्णु, राम, कृष्ण ही नहीं, अपितु काली, भैरव-काली उत्तर वाममार्गी, दक्षिण वाममार्गी—कितने ही सम्प्रदाय खड़े हुए हैं, जो आपस में झगड़ते रहते हैं। पंचांग के अनुसार एकादशी भले ही एक हो, पर शिव-विष्णु की एकादशी अलग ही होगी।

गोस्वामीजी ने एक ही बात कही है कि चतुर्वर्ण सही है, शेष सब मत-मतांतर झूठे हैं। निम्न वर्ण में अगर कोई भक्त हुआ हो, जो भले ही शूद्र-शबर हो, पर वह वंदना के योग्य है।

जब भी दो संस्कृतियों का मिलाप होता है तो या तो वहां संघर्ष होगा, या फिर समन्वय। पर समन्वय वहीं होगा, जहां दोनों का लगभग

एक सामान बल होगा। हिन्दू-मुस्लिम समन्वय के भी दो प्रयास हुए हैं। एक कबीर का, दूसरा अकबर का।

कबीर ने तथा कुछ हद तक सूफियों ने यह कह कर कि, हिन्दू-मुस्लिम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, काशी-काबा एक ही है, राम-रहीम में कोई फर्क नहीं है, दोनों सम्प्रदायों को एक करने की कोशिश की थी। पर मुस्लिम धर्म के अधिष्ठाताओं को वह सब कुफ्र ही लगा था। कहा जाता है कि सिकंदर लोधी के दरबार में कबीर के विरुद्ध यह शिकायत की गई थी कि वह मुस्लिम धर्म की बदनामी कर रहा है। अलबत्ता, यही बात हिन्दू धर्म के बारे में भी कही जाती है कि ऐसी ही शिकायत इन लोगों ने भी की थी। परिणामस्वरूप समन्वय की बात आगे नहीं बढ़ी।

मुस्लिम धर्म सिर्फ यही नहीं कहता था कि खुदा एक है। इसे स्वीकार करने में हिन्दू धर्म को कोई एतराज नहीं होता, क्योंकि वेद में कहा गया है—'एकम् सत्', यानि भगवान एक है। यह बात तो हिन्दू धर्म भी मानता है। लेकिन मुहम्मद ही उसका पैगंबर है, इसे स्वीकार करना, हिन्दुओं के लिए संभव न था। वेद की उपर्युक्त पंक्ति के दूसरे भाग में कहा गया है कि 'विप्रा: बहुधा वदन्ति', याने ज्ञानी लोग उसका अनेक रूपों में वर्णन करते हैं। इन्द्रियों से मर्यादित अनुभव और उससे मर्यादित वाणी परम सत्य का वर्णन एक जैसा कैसे कर सकती है? सिवाय इसके कि वह 'न इति, न इति' कहे। लेकिन मुस्लिम धर्म मुहम्मद के सिवाय कोई अन्य पैगंबर स्वीकार ही नहीं करता। इसीलिए उसे कबीर मान्य नहीं।

आगे चलकर अकबर दोनों जातियों को दाहिनी-बांई आंख कहता है, तो यह बात मान्य हो भी कैसे सकती है? अकबर के 'दीने-इलाही' धर्म में अंगुलियों पर गिने जाएं जितने लोग भी नहीं थे।

दोनों ही प्रयत्न उस समय निष्फल गए। धार्मिक अत्याचार भी नहीं रुके। आक्रामक धर्म का जिहादी स्वरूप तत्त्वत: वही का वही रहा। जो मुहम्मद को स्वीकार नहीं करता, वह मुस्लिम नहीं और जो मुस्लिम नहीं, वह काफिर है।

इस अनुभव के प्रकाश में दो ही बातें करने जैसी लगीं।

(क) हिन्दू धर्म को फिर से संगठित करना और

(ख) उसमें नए विश्वास का संचार करना।

क्योंकि नए विश्वास के बिना नया संगठन नहीं टिकने का । जात-पांत और वर्ण-धर्म के बंधनों को यथासंभव तोड़ने या फिर उन्हें शिथिल करने के प्रयत्न बुद्ध-महावीर ने भी किये थे, पर उन्हें सफलता नहीं मिल पाई । जैन चुपचाप हिन्दू धर्म के एक भाग जैसे बन गए थे और बुद्ध धर्म यहां से बाहर चला गया था । जात-पांत के भेदों में विच्छिन्न हिन्दू धर्म उस समय जीता जरूर, पर कड़े प्रतिस्पर्द्धी के अभाव की वजह से ।

मुसलमानों ने आते ही तमाम निचली जातियों को खुला निमंत्रण दे डाला कि 'देखो, हमारा धर्म सबको बिना भेदभाव प्रवेश देता है । यहां कोई पतित नहीं है, ऊंचा-नीचा नहीं है ।'

वर्णाश्रम-धर्म के अतिरेक से प्रतीड़ित अनेक शूद्र जातियों—चांडाल, नाम शूद्र, अति शूद्र, चमार, जुलाहों, मछुआरों, आदिवासियों आदि को पहली बार एक द्वार नजर आया, जहां उन्हें सम्मान दिखाई पड़ा । उस समय हम लोग जागे नहीं । उस समय कदाचित् हमने सोचा होगा कि कनखजूरे की इतनी सारी टांगों में से कुछ टूटती हों तो भले ही टूटें । उससे क्या होगा ? इस तरह हमने सब को मुसलमान बन जाने दिया । उपेक्षा और लापरवाही से । लेकिन उसका नतीजा सन् 1947 में जाकर हमने देखा । धीरे-धीरे वहां हिन्दुओं की आबादी ही कम हो गई या समाप्त हो गई और मुसलमानों की संख्या बढ़ती गई । शुरुआत में पाकिस्तान का कोई सवाल ही नहीं था, पर 1947 में हमसे यह कहा भी नहीं गया कि यह पूर्वी बंगाल हमारा है । चुपचाप बिना बोले सौंप देना पड़ा । क्या कारण था ? हमारे पूर्वजों ने जो उपेक्षा भाव पैदा किया था, जो भेदभाव बरता था, उसी का यह नतीजा था ।

मुसलमानों के आगमन के बाद तो हिन्दू धर्म की दशा बिल्कुल बदल गई । उनसे पहले ग्रीक यहां आए थे, शक, सीथियन आये थे । हूण आये थे, कुषाण लोग आये थे । यवन-ग्रीक इनसे पहले आए थे । पर इन सब के आने से हमारा आधार आन्दोलित नहीं हुआ था । लेकिन मुसलमानों ने आते ही हमारे समाज में एक नई घोषणा की, कि जो भी हममें आकर मिलेगा, वह हमारे समान हो जाएगा । इसलिए वर्ण की श्रेष्ठता के अभिमान से जो लोग निम्न समझे जाते थे, उन निम्न लोगों ने मुसलमान बनने की सोची । मुसलमानों ने कितनों को ही मारा, कितनों को ही धर्म भ्रष्ट कर डाला, पर कितने ही स्वेच्छा से उनमें जा मिले । उस समय हिन्दू समाज जाग नहीं रहा था, अपितु अपने खोल में

और अधिक मुड़-सिकुड़ रहा था। इससे बचने का क्या उपाय था ? तुलसीदासजी ने उपाय बताते हुए कहा है कि कृपा करके अपने इन तमाम फिरकों को आप समाप्त कर दीजिए। देश में अनेक प्रकार के पंथ थे—गोरखपंथी थे, वाममार्गी थे, दक्षिण वाममार्गी थे, उत्तर वाममार्गी थे, छोटे-बड़े कई देवी-देवताओं के सम्प्रदाय थे। शैव, वैष्णव, द्वैतवादी, अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी सम्प्रदायों में तीन बड़े सम्प्रदाय थे—कृष्ण-भक्ति, शिवभक्ति, रामभक्ति। ये सब एक-दूसरे के समक्ष मोर्चा बना कर बैठे थे। वैष्णव शैवों के सामने, शैव शाक्तों के सामने। पहला काम तुलसी ने यह किया, कि इन्होंने राम के मुँह से इनके लिए यह बात कहलाई कि 'जो शंकर से द्रोह करता है, वह मुझसे (राम से) भी द्रोह करता है, और जो मुझसे द्रोह करता है, वह शंकर से भी द्रोह करता है। ऐसा व्यक्ति मुझको कत्तई पसंद नहीं है।' सीता की खोज में सागर तट पर पहुंचने के पश्चात् राम ने वहां शिवलिंग स्थापित किया और शिव की पूजा की :

लिंग थापि विधिवत करि पूजा।
सिव समान प्रिय मोहि न दूजा।।
सिव द्रोही मम भगत कहावा।
सो नर सपनेहुं मोहि न पावा।।
संकर विमुख भगति चह मोरी।
सो नारकी मूढ़ मति थोरी।।
संकर-प्रिय मम द्रोही, मम द्रोही शिव दास।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महुं वास।।

(लंकाकांड—1-2)

अगर कोई मेरा भक्त आकर शंकरजी की निंदा करेगा तो मैं उसे अपना भक्त नहीं मानूंगा। देश के दो बड़े जबर्दस्त सम्प्रदायों के बीच, ऐसी बात कहला कर, गोस्वामीजी ने एकता स्थापित कर दी। इस प्रकार शंकर राम का गुणगान करते हैं और राम शंकर का गुणगान करते हैं। सागर किनारे सेतु बांधते समय राम ने पहले शंकरजी की स्थापना की थी—यह बात गोस्वामीजी की दूरदृष्टि का प्रमाण थी।

खुद यह रामकथा शंकर ही मूलतः पार्वतीजी को सुनाते हैं, यह भी उन्हीं की आयोजना है।

वैसे तो सम्पूर्ण भक्ति-आंदोलन में जयदेव से लेकर स्वामी रामदास

तक समस्त हीन समझे जाने वाले और वर्णाश्रम धर्म के नीचे कुचले जाने वाले लोगों को भक्ति-मार्ग में लाकर समानता और स्वमान का स्वाद चखाने की चेष्टा की गई है। पर तुलसीदास रामानंद जी के द्वारा प्रज्वलित इस प्रकाश-पुंज के एक दीपस्तंभ थे।

उनके राम गुह को भेंटते हैं, वानरों से मिलते हैं, रींछ से मैत्री बढ़ाते हैं। जब शबरी से मिलते हैं तो वह कहती है :

पानि जोरि आगे भयि ठाढ़ी।
प्रभुहिं बिलोकि प्रीति अति गाढ़ी॥
केहि विधि अस्तुति करौं तुम्हारी।
अधम जाति मैं जड़मति भारी॥
अधम तें अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महं मैं मतिमंद अघारी॥
(अरण्यकांड 34-1-2)

शबरी अपनी जाति को अधम बताती है और फिर अधम जाति में भी नारी होने के कारण स्वयं को अधम और मतिमंद बताती है। पर गोस्वामी जी के राम उसे उलाहना देते हुए ऊपर उठा लेते हैं :

कह रघुपति सुन भामिनि बाता।
मानऊं एक भगति कर नाता॥
जाति पांति कुल धर्म बड़ाई।
धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहई कैसा।
बिनु जल बारिद देखिहहिं जैसा॥
(अरण्यकांड 34-2-3)

पहले तो स्वयं को अधमाधम मानने वाली शबरी को वे भामिनी के संबोधन से पुकारते हैं, फिर चोट करते हुए कहते हैं कि मेरा तो एक ही संबंध है—भक्ति का। कुल धर्म की बड़ाई, धन-बल, सगे-संबंधियों में बुद्धिमत्ता आदि का कोई मूल्य नहीं है। अगर भक्ति नहीं है तो ये सब जल-विहीन बादलों की तरह थोथे हैं।

इसी तरह तुलसी वर्णाश्रम धर्म की व ऐसी ही अन्य दीवारों को भक्ति के बल से धराशायी कर देते हैं।

हनुमान जी से राम कहते हैं :

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना ।
तें मम प्रिय लछिमन ते दूना ।।
समदरसी मोहि कह सब कोऊ ।
सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ।

'हे कपि ! सुनो, मन में ग्लानि न करो । तुम मुझे लक्ष्मण से भी दूने प्रिय हो । सब मुझे समदर्शी कहते हैं, फिर भी अनन्य गति भक्त के समान कोई मुझे प्रिय नहीं ।'

एकनिष्ठ भक्ति के बल पर रघुनाथ-चरित्र की रचना करके गोस्वामी जी महाराज ने लोकभाषा के माध्यम द्वारा क्षीण-प्राय हो रहे हिन्दू धर्म को बचाने के लिए एक बांध बांधा है ।

गोस्वामी जी ने भक्ति के माध्यम की विशेषताएं बताई हैं ।

एक है नाम-महिमा ।

ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए या उसकी सहायता मांगने के लिए न यात्रा पर जाने की जरूरत, न मंदिर स्थापित करने की, न ही यज्ञ-याग करने की । शुद्ध हृदय से किये जाने वाले नाम-जप से अशरण-शरण प्रसन्न होते हैं । उसके पास ऋद्धि-सिद्धि की क्या कमी है कि जो हमारे दान की जरूरत पड़े ! उसे तो हम अपना हृदय सौंप दें और हृदय तो गरीब से गरीब के पास भी है ना !

उन्होंने प्रारंभिक पीठिका में ही कह दिया था कि 'राम से बड़ा राम का नाम ।' जिस राम के वे स्वयं को गुलाम बताते हैं और चित्रकूट में जिन्होंने स्वयं राम के ललाट पर चंदन का लेप लगाया था, उन राम से भी राम का नाम बड़ा है, यों कहते हुए गोस्वामी ने अंतरिक्ष में कितनी ऊंची उड़ान भरी है ! वे कहते हैं :

राम एक तापस तिय तारी ।
नाम कोटि खल कुमति सुधारी ।।

याने राम ने तो एक तपस्विनी अहिल्या का ही उद्धार किया था, पर राम के नाम ने तो करोड़ों दुष्ट जनों को सुमति दी है ।

भंजेउ राम आप भव चापु ।
भव भव भंजन नाम प्रतापु ।।

निसिचर निकर दले रघुनंदन ।
नाम सकल कलि कलुष निकंदन ।।
सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ ।
नाम उधारे अमित खल वेद विदित गुननाथ ।।

उन्होंने तो यहां तक कह डाला—'कहऊं नाम बड़ ब्रह्म राम तें', याने ब्रह्म (निर्गुण व सगुण राम) से भी नाम बड़ा है । क्योंकि नाम से ही दोनों का परिचय मिलता है :

देखियहिं रूप नाम आधीना ।
रूप ज्ञान नहिं नाम विहीना ।।
उभय अगम जुग सुगम नाम तें ।

उत्तर भारत में तथा अन्यत्र सभी जगहों पर भक्ति के इस सरल स्वरूप ने भाव-सागर में ज्वार पैदा कर दिया, जिसमें सगुण-निर्गुण, राम-शैव, द्वैत-अद्वैत, शिक्षित-अशिक्षित, उच्च-निम्न सब के सब एकमेक हो गए ।

इसीलिए ग्रियर्सन जैसे भाषाविद् ने कहा था कि 'उत्तरी भारत के जन समुदाय का हृदय-हार तुलसीदास है । उसके आसन पर कोई भी दूसरा नहीं बैठ सकेगा ।'

पर ऐसी अनन्य रामभक्ति ! जिसकी भरत ने व्याख्या की है :

धरम न अरथ न काम रुचि
पद न चहौं निर्वान ।
जनम जनम रति राम पद
यह वरदान न आन ।।

ऐसी भक्ति अयोध्या के राजकुमार, दशरथ पुत्र रामचंद्र के प्रति नहीं हो सकती । चाहे कितना ही शूरवीर और सहृदय हो, पर आखिर तो वह कालग्रास मानव ही था ? जो पांच, पच्चीस, पचास, सौ वर्ष की उम्र आने पर जाएगा ही जाएगा, उसका नाम जपने का क्या मतलब ?

इसी वजह से गोस्वामी जी ने अपने राम को दशरथ पुत्र राम के रूप में चित्रित नहीं किया, वे तो सर्व शक्तिमान, सर्वज्ञ, ईश्वर हैं । अपने भक्तों के दुःख मिटाने के लिए करुणापूर्वक उन्होंने अवतार लिया है ।

वाल्मीकि और तुलसी में यही एक अन्तर है। वाल्मीकि के राम नर-चंद्र हैं : चंद्रमा जैसे शीतल, आह्लादक; पर आखिर तो नर ही हैं।

उन्हें भरत पर अगाध प्रेम है। उसे राज्य सौंपने में पल भर की देर नहीं थी। फिर भी वे मनुष्य हैं। भरत भी अंततः मनुष्य है। अतः वन जाने की बात आने पर राम सीता को अयोध्या में कैसे रहे, यह सीख देते हुए कहते हैं : जब कभी भरत तुमको प्रणाम करने आए तो उसके सामने मेरा गुणगान मत करना, क्योंकि जिसे धन, प्रतिष्ठा, राज्य मिल जाता है उसे औरों के यशगान सुनना नहीं सुहाता। इसलिए भरत के सामने मेरा गुण कभी न गाना।' (अयोध्याकांड सर्ग 26 श्लोक 25-26)

इसी तरह रावण-वध के बाद राम भरत से मिलने को आकुल-व्याकुल हैं, इस वास्ते वे लंका को देखने जाने और कुछ दिनों तक वहां आनंद मनाने का विभीषण का आमंत्रण स्वीकार नहीं करते। वे हनुमान से कहते हैं कि जाकर भरत को मेरे आने का समाचार दो। पर उस समय भी वे कहते हैं : 'जरा ध्यान से देखना कि इस समाचार को सुनने के बाद भरत की मुखमुद्रा और उसके हाव-भाव में कोई अन्य भाव तो नहीं उभरता है न ?'

भरत से उन्हें प्रेम है, पर उतना विश्वास नहीं है जितना भरत के मन में इनके प्रति है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से कदाचित् भरत राम से बढ़कर हैं, क्योंकि वाल्मीकि रामायण में राम ईश्वर नहीं हैं।

सीता के बारे में भी वाल्मीकि के राम रावण-वध के पश्चात् सब के सामने कह देते हैं, 'रावण के घर में रहने के कारण अगर मैं तुझे फिर से रखता हूं तो लोक में मुझ पर यह अपकीर्ति लग जाएगी कि काम-वासना से प्रेरित होकर मैं लड़ने आया था। मैंने रावण को मार कर अपने अपमान का बदला लिया है और अपनी कीर्ति को अक्षुण्ण रखा है। अब तुझे जहां भी जाना हो, चली जा। रावण की गोद में और उसके घर में रहने के कारण लोग तुझे पवित्र कैसे मानेंगे ? जैसे रोगी को दीपक नहीं सुहाता, वैसे ही तू मुझे अच्छी नहीं लगती।' (युद्धकांड सर्ग 114, श्लोक 4-5-6-13-14-15-16-17-18-19-20) अग्नि-परीक्षा के बाद राम यह बात अवश्य कहते हैं कि सीता तो पवित्र ही है, यह मुझे पता ही था, बस लोकापवाद को दूर करना जरूरी था।

रामचंद्र यहां मानव हैं—लोकापवाद से डरने वाले, अकारण कठोर बन जाने वाले, कीर्ति को प्रेम से बढ़कर मानने वाले।

राम की यह मानवोचित दुर्बलता आखिर तक नहीं गई। वाल्मीकि द्वारा साक्ष्य दे देने के बाद भी वे कहते हैं कि सीता राजसभा के सामने शपथ लेकर कहे। परिणामतः वे सीता को खो बैठते हैं। उनको इतना ही सुनने को मिलता है :

'देहि मे विवरम्।'

वाल्मीकि के राम मनुष्य हैं। मान-अपमान, मिलन-विरह, कीर्ति-अपकीर्ति—आदि से उनका चित्त अस्पृश्य नहीं है।

पर तुलसी को एक मानव की क्या आवश्यकता? उनको तो इस दीन, दुखी, हीन, मलिन, त्रस्त व निराधार समाज को कोई त्राता देना था, जो बिना किसी भेदभाव के सभी भक्तों की सार-संभाल ले सके। अरे, गीध को भी जो उसके पराक्रम की प्रशंसा स्वरूप पुत्रवत् अग्निदाह दे, जो कभी नहीं हारे, जिसके सामने राक्षसों के तमाम करामातों के मायाजाल छिन्न-भिन्न हो जाएं, फिर भी जिसे जीतने का घमंड तक न हो और पराजय में जो ग्लानि की झांई तक न पड़ने दे, ऐसा अविचल त्राता, भ्राता, पिता, पति, सुहृद्, अनाथों का नाथ चाहिए। यह सब अयोध्या के राजकुमार को ईश्वर का प्रतीक माने बिना कैसे हो सकता था? इसीलिए 'मानस' को आरंभिक पीठिका में तुलसी ने लिखा था।

कहं रघुपति के चरित अपारा।
कहं मति मोरि निरत संसारा॥
सारद, सेस, महेस, विधि आगम, निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥
एक अनीह अरूप अनामा।
अज सच्चिदानंद पर धामा॥
व्यापक विश्व रूप भगवाना।
तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥
(बालकांड—11-12/5-2)

फिर भी तुलसीदास जी की परेशानी यह है कि इस अज अनीह अनाम, व्यापक विश्व रूप भगवान को सामान्य सांसारिक व्यक्ति की तरह आचरण-व्यवहार करते कैसे दिखाएं।

भक्त तो उसका स्पष्टीकरण लीला शब्द में कर लेते हैं, पर उससे काव्य का आनंद लेने वाले को संतोष नहीं मिलता। भक्ति की महिमा को तुलसी ने ठेठ आकाश तक पहुंचा दिया था, पर उससे काव्य को क्षति पहुंचे बिना न रही। वाल्मीकि इस अपवाद से बच निकले।

धनुष-बाण लेकर लड़ने वाला, सीता से स्वयंवर में विवाह करने वाला, वनगमन के समय मां बिना-बछड़े की गाय की तरह क्षुब्ध होगी—यह कहने वाला, सीता के विरह में रो-रोकर प्रस्तर-शिला को भिगो देने वाला अगर मनुष्य हुआ होता तो वह बहुत मन-भावन बन जाता। पर हर क्षण पाठकों को सचमुच ऐसा तो लगने से रहा कि यह भगवान है, लीला कर रहा है। इस तरह से कह कर गोस्वामी जी कितनी ही बार काव्य-रस का सारा मजा किरकिरा कर देते हैं। मजे की बात यह, कि राम ईश्वर है, यह बात सिर्फ हम ही जानते हों ऐसा नहीं है, अपितु कुंभकर्ण और मंदोदरी तक जानते हैं। कौशल्या तो खैर, जानती ही है।

रावण ने जिस समय अपनी मदद के लिए कुंभकर्ण को जगाया, तब वह बोला :

भल न कीन्ह तैं निसिचर नाहा।
अब मोहि आई जगाअिह काहा॥
अजहूं तात त्यागि अभिमाना।
भजहुं राम होइहिं कल्याना॥
कीहेहुं प्रभु विरोध तेहि देवक।
सिव बिरंचि सुर जाके सेवक॥

(लंकाकांड 62/1-3)

इसके बाद तो राम से कुंभकर्ण का भीषण युद्ध पाठकों के लिए नीरस ही बन जाता है।

इसी तरह मंदोदरी भी जानती है कि राम कोई अयोध्या के राजकुमार नहीं, वे तो सर्वशक्तिमान सर्वव्यापी ईश्वर हैं :

कंत राम विरोध परिहरहूं।
जानि मनुज जनि हठ मन धरहू॥
विश्व रूप रघुबंसमनि करहु वचन विश्वासु।
लोक कल्पना वेद कर, अंग अंग प्रति जासु॥
पद पाताल सीस अज धामा।
अमर लोक अंग अंग विश्रामा॥

भला मंदोदरी को लंका में बैठे-बैठे ही यह सूचना कैसे मिल गई या यह अनुभव कैसे हो गया, यह तो पूछने का सवाल ही नहीं उठता, मान कर ही चलना है। लेकिन इसके बाद काव्य-रस का प्रवाह तो क्षीण हो ही जाता है।

इससे भी विचित्र बात 'मानस' में यह है कि राम सीताहरण से पहले आगे घटित होने वाली घटना को जान कर सचमुच की सीता को अग्नि-लोक में जाने की आज्ञा देते हैं और सीता को छाया-मूर्ति को अपने संग रखते हैं।

प्रश्न उठता है कि तब राम का विलाप किसके लिए था, या ऐसा विकट युद्धोत्साह किस वास्ते था ?

हां, गोस्वामी जी ने इतना कवि-चातुर्य अवश्य दिखाया कि रावण-वध के बाद जो अग्नि-प्रवेश का प्रसंग आता है, उस समय एक चौपाई में उन्होंने-छाया सीता को अग्नि में प्रविष्ट कराया है, मूल सोता को अग्नि द्वारा भगवान के हाथों में सौंपे जाता बताया है।

पर इस वर्णन में वाल्मीकि का रामायण सदृश हृदय को मथ देने वाला करुण रस कहां ?

कोई सोच सकता है कि काव्य की दृष्टि से क्षति वाला ऐसा महाकाव्य घर-घर में कैसे व्यापक बन गया ? 'मानस' एक महाकाव्य है। पूरे मध्ययुग में यह एकमात्र महाकाव्य है।

साहित्य की दृष्टि से मध्ययुग बालयुग था। जिस तरह बालकों को आश्चर्य और चमत्कार अच्छे लगते हैं, संभावना-असंभावना का पता लगाने के लिए वे रुकते नहीं, उड़ती हुई परियां या छह-छह महीने सोये रहने वाले कुंभकर्ण के प्रति अविश्वास तक पैदा नहीं होता; उन्हें मानवीय को बजाय अतिमानवीय बातों में अधिक आनंद आता है।

यह एक कारण है।

दूसरा कारण यह है कि उस समय तक प्रकृति पर मनुष्य के नियंत्रण की संभावना पैदा नहीं हुई थी, इसलिए उनमें अतिरंजित कल्पना का आश्रय लेने की प्रवृत्ति अधिक थी।

इन दोनों कारणों को लेकर आज भी कई लोगों में फर्क नहीं आया।

लेकिन तीसरा और महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि उसमें एक सक्षम व दयावान, अशरण-शरण, सर्व-समर्थ भक्तवत्सल भगवान की प्रत्यक्ष मूर्ति खड़ी हुई है।

जब मनुष्य को अपनी शक्ति की सीमा नजर आ जाती है और फिर भी अन्याय का मुकाबला करने की, जूझने की वृत्ति राख में नहीं दब जाती, उस समय उसके दिल में किसी की सहायता से अंतिम युद्ध की प्रबल उत्कंठा जागती है—ऐसी सहायता, कि जो कभी विफल न हो, जो अजेय और तत्काल सुलभ हो।

ये गुण तुलसी के राम में चरितार्थ हुए हैं।

थकी-हारी, फिर भी भीतर से जुल्मों के समक्ष जूझती जनता को इन दुष्टों-राक्षसों के सामने सहायता की जरूरत है। द्रौपदी की तरह या उस गजराज की तरह, जिसके प्राण गले में आकर अटक गए थे, उन्हें ऐसे ईश्वर की सहायता की तत्काल जरूरत थी, जो इन राक्षसों का संहार करें।

बांसुरी बजाने वाला नहीं, धनुष की टंकार से समुद्र तक को झुका देने वाला ईश्वर।

कहते हैं कि तुलसी का एक भाई वैष्णव था, जो उन्हें एक बार वृंदावन ले गया। वे श्रीकृष्ण के मंदिर में गए। देखा—सामने भुवन-मोहन-स्मित वाले श्रीकृष्ण खड़े हैं। पर तुलसी तो तुलसी ही थे। वे इस वंशीधर श्रीकृष्ण के समक्ष प्रणत नहीं हुए। वे जानते थे कि कृष्ण ही राम हैं और राम ही कृष्ण हैं, पर बांसुरी की तो पूर्णिमा की रात में यमुना-तट पर गोपिकाओं के साथ जरूरत पड़ेगी, यहां तो अमावस्या है, इसलिए अग्नि-ज्वाला की जरूरत थी—कलिमलदहन भगवान की। ऐसे में तुलसी के मुँह से 'भले बने हो नाथ' की नर्म मर्मोक्ति फूट पड़ी :

कहा कहौं छबि आपकी
भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवे
धनुष-बाण लो हाथ॥

और सर्वज्ञ प्रभु ने उन्हें इसी रूप में दर्शन दिये। नानक ने जिस हृदय-विदारक स्थिति का साक्षात् वर्णन किया था, उसमें गोपीजन-वल्लभ की क्या जरूरत ?

वहां तो मर्यादा पुरुषोत्तम, भक्तवत्सल वीर-शिरोमणि राम की ही जरूरत है ।

भले ही वे पूर्ण पुरुषोत्तम न हों । मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' में लिखा है : 'मानव जाति अपने सामने उपस्थित होने वाले और हल हो जाने वाले प्रश्नों को ही हाथ में लेती है ।'

सूरदास भी महाकवि थे । कदाचित् कल्पना, भावात्मकता या सौंदर्य-बोध के कवि के रूप में वे आगे बढ़े हुए दिखाई देते हैं, पर वे व्यापक एवं लोकजीवन के मार्गदर्शक नहीं बन सके । नटखट नटवर की बाल-क्रीड़ाएं, यशोदा का पुत्र-वात्सल्य और गोपिकाओं की सहज निर्मल स्नेह-सीता सूर के विषय थे, पर लोगों को तो दशानन जैसे यवनों के समक्ष किसी संजीवनी की जरूरत थी ।

यह संजीवनी थी रामचरितमानस । स्वयं तुलसी की 'विनय पत्रिका' के कई पद 'मानस' के उन्हीं प्रसंगों से बढकर हैं । यही बात 'गीतावली' में है :

'ऐसो को उदार जग मांही'
'कहां के पथिक, कहां कीन्ह है गवनवां'
'जाके प्रिय न राम-वैदेही'
'रघुवर, तुमको मेरी लाज'
'और नहीं कछु काम के'

• इन पदों की 'मानस' के ऐसे ही भावों से संबंधित दोहों, चौपाइयों, सवैयों से तुलना करने पर हाथ की उंगलियों की भांति स्पष्ट हो जाता है कि ये पद काव्य-दृष्टि से बढ़-चढ़ कर हैं ।

पर लोग तो रण-धुरंधर, धर्म-सेतु, मर्यादा-पुरुषोत्तम के लिए तरस रहे हैं । पुरुष तो हार सकता है, पुरुषोत्तम नहीं; फिर वे भी मर्यादा वाले पुरुषोत्तम ! जो लोगों को समझकर तदनुसार मार्गदर्शन प्रदान करते हैं ।

रावण को मारना तो एक खेल जैसी बात है भगवान के लिए; शक्ति तो है, पर शक्ति को इस तरह प्रयोग में नहीं लेना चाहिए । पहले संधि के प्रयास किये जाने चाहिए, सिर्फ शक्ति के भरोसे चलेंगे तो गलत मुकाम पर पहुंचना पड़ेगा । अगर शक्ति नहीं है, तो उसी ठौर पड़ा रहना पड़ेगा । अतएव मर्यादा समझने वाली और मर्यादा को सहेजने वाली शक्ति चाहिए ।

भक्तों को यह बात कैसे अच्छी लग सकती है कि भगवान रावण को समझाने के लिए किसी को भेजें। तभी तो भक्त कवि शामल जी ने सुलह कराने के लिए अंगद को दूत बना कर भिजवाने के प्रसंग में अंगद से यह कहलवाया है कि वह लंका को समुद्र में फेंक देगा और रावण का सिर फोड़ देगा, पर संधि-दूत बनकर जाना नहीं चाहेगा। लेकिन भगवान के लिए शक्ति ही सब कुछ नहीं। ऐसे मर्यादा पुरुषोत्तम को तुलसी ने लोक-हृदय में खड़ा किया है, जो सबसे पहले वनवास देने वाली मां कैकेई को प्रणाम करते हैं, और वनवास की अवधि समाप्त होने पर जिन्होंने भरत की जटाओं को पहले खोला और धोया, और तब अपनी जटाएं उतारी। वाल्मीकि द्वारा एक विशाल आधार-शिला पर चलने वाली गृह-कथा रचने के मूल हेतु को तुलसी ने भुलाया नहीं था।

पर भगवान की भगवत्ता उनकी शक्तिमत्ता के बावजूद मर्यादा के परिपालन में ही निहित नहीं है। वे अपनी शरण में आने वालों को अपने जैसा ही बना लेते हैं--यही उनकी भगवद्-महिमा है।

अंगद के दूतकार्य-प्रसंग को ही लें। रावण की राजसभा में अंगद जो प्रत्युत्तर देता है, उनमें शौर्य तो छलकता ही है, अपितु राम के स्वभाव वाली मर्यादा भी दृष्टिगत होती है।

रावण को फटकार भरे वचन बोलने में वह रंचमात्र भी नहीं झिझकता। रामचंद्र जी ने विदा के समय कहा था :

काजु हमार तासु हित होई।
रिपु सन करेहु बतकही सोई।।

हमारा काम भी हो और दुश्मन का कल्याण भी हो। मात्र शक्ति ही नहीं, साथ में समझदारी भी। यों कहा जा सकता है कि समझदारी-रहित शक्ति याने रावण, और समझदारी-युक्त शक्ति याने राम।

ऐसे राम के दूत में वीरता तो होगी ही। रावण उसे बंदर कहता है, इस पर अंगद जवाब देता है :

मैं रघुवीर दूत दसकंधर।।
तव हित कारन आयउ भाई।

पर अपने हित की बात को अगर रावण समझ ले, तो रावण कैसा? वह उल्टे पूछता है—'बाली कहां है? तू उसका कपूत कैसे

निकला ?' अंगद ने हसते हुए जवाब दिया :

दिन दस गए बालि पहिं जाई ।।

'जल्दबादी मत कर । दस-एक दिनों में तू भी बाली के पास चला जाएगा । वहीं जाकर सारे समाचार पूछ लेना ।'

ऐसे कटु वचनों को सुनने के बाद भी रावण अपने धर्म की दुहाई देता है, जिसके कारण वह मात्र सुनने को विवश है। इस पर अंगद कटाक्ष करता है :

कह कपि धर्मशीलता तोरी ।
हमहुं सुनी कृत पर त्रिय चोरी ।।

याने तेरी धर्म-परायणता से मैं परिचित हूं । तभी तो तूने पर-स्त्री का अपहरण किया था । साथ ही एक फटकार जमाता है—

बूड़ि न मरहु धर्म व्रतधारी ।

याने 'डूब मर, डूब मर धर्म की बात करने वाले !' सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में राजपूतों, मराठों, सिक्खों ने मुगलों से जो धर्म-संग्राम लड़ा था—अमीर-आमिल, शाहजादा-सुल्तान, मुल्ला-मौलवी किसी की भी शर्म नहीं की—उन्होंने जल मरने या भींत में चुने जाने का काम हँसते-हँसते किया, उसमें इस अंगद-दूतकार्य का स्वर सुनने को मिलता है—फिर चाहे वह दुर्गादास हो, छत्रसाल, शिवाजी या गुरु अर्जुनदेव हो।

कविता अलौकिक ही नहीं होती, लोक-लोकों तक प्रकाश विकीर्ण करने वाली भी होती है ।

तुलसी की आस्था यह है कि अंगद की शक्ति स्वयं उसकी नहीं अपितु भगवान के सत्संग की है । तभी तो अंगद वह बात कह सका :

मन महं समुझि बचन प्रभु केरे ।
सहऊं कठोर बचन सब तेरे ।।

बाकी तो तू—

'बीसहुं लोचन अंध।'

याने तेरे बीस नेत्र हैं, फिर भी तू अंधा है ।

तुलसी शृंगार के कवि नहीं हैं । उन्होंने इसकी मर्यादा को समझा है । यही नहीं, उस काल और उस क्षण को शृंगार की आवश्यकता भी नहीं थी । उन्होंने लोकोद्धार के लिए वीरता का—भक्तिपूर्ण वीरता का गान किया है—राम का भक्तिगान करते हुए ।

इसके लिए तो जिस तरह से सगुण की बजाय साकार और साकार की बजाय नाम-भक्ति बढ़-चढ़ कर है, उसी तरह से स्वयं भगवान की बजाय उसके भक्त से जुड़ा रहना अधिक बढ़-चढ़ कर है। सेव्य की अपेक्षा उन्होंने सेवक की महिमा को महत्ता के साथ गाया है। तभी तो तुलसी के मन में अंगद, हनुमान, भरत, विभीषण आदि की महिमा गाते-गाते उमंग की लहरें उठने लगती हैं :

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा ।
राम तें अधिक राम का दासा ।।

किस लिए ? सहज उपमायें देते हुए वे कहते हैं :

राम सिंधु सज्जन घन धीरा ।
चंदन तरु हरि संत समीरा ।।

यानी भगवान तो समुद्र की भांति अपार हैं, क्या उन्हें कोई घर में ला सकता है ? संत रूपी बादल उनकी आर्द्रता, शीतलता, उर्वरता को घर-घर पहुंचाते हैं। भगवान तो चंदनवृक्ष हैं। उन्हें जंगम कैसे बताया जाए ! उन्हें तो वायु रूपी संत ही घर-घर पहुंचाते हैं।

❀

भक्ति के बीज तो ठेठ वैदिक काल से हैं। गीता ने भी भक्ति की अतुल महिमा गाई है। भक्त तो योगी से भी बढ़कर होता है :

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।
(भगवद्गीता 6/47)

ऐसा भक्त भले ही सांसारिक दृष्टि से दरिद्र हो। उसके पास देने को कुछ भी न हो। भले ही वह

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।
(भगवद्गीता 9/26)

गुह और शबरी के पास फल-फूल देने के अलावा और था ही क्या ? फिर भी आदिकवि ने लंका-विजय से लौटते हुए राम द्वारा गुह से मिलने के लिए विमान को नीचे उतारे जाने का वर्णन किया है। राम गुह से बोले : 'सुक्षमात्मसमं सखा ।'

तुलसी ने तो ऐसे भक्तों की महिमा का गुणगान करने में पीछे मुड़ कर तक नहीं देखा, जिन्हें संसार से विरक्ति हो चुकी थी और राम के स्नेह की स्निग्धता जिनके अंग-अंग में व्याप्त थी—

तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैन-दिन राम ।
ऊंचो कुल केहि काम को जहां न हरि को नाम ।।

इस महिमामयी भक्ति की विशिष्टता है एकनिष्ठता, यानी एक देवता की भक्ति ।

गोस्वामीजी ने अन्य देवताओं की उपेक्षा नहीं की । आरंभ में ही 'जेहि सुमिरत सिधि होई' कह कर गणेशजी को स्मरण किया है । शंकर तो उन्हें प्रिय हैं ही । फिर भी इष्टदेव एक ही हैं । वही मारने वाले, वही तारने वाले, और सब बाद में । यह बात तुलसी ने लोगों को सिखाई थी । कदाचित् इसमें मुसलमानों की एकोपासना के आग्रह का प्रभाव भी रहा हो । पर इस आग्रह से सामाजिक, नैतिक व आध्यात्मिक शक्ति को बिखरने से रोका जा सका और केन्द्रित होने पर शक्ति-संचय व शक्ति-स्फोट की संभावनाएं बढ़ीं । सम्मान तो सभी देवों का होना चाहिए, पर भक्ति का वास्तविक लाभ तो तभी मिलता है जब इष्टदेव में भक्ति को एकमेक कर दिया जाए ।

तुलसी जप तप नेम व्रत सब सबहीं ते होई ।
लहै बड़ाई देवता इष्टदेव जब होई ।।

श्रीकृष्ण ने गीता में सार रूप में यही तो कहा है :

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्यमुक्तस्य योगिनः ।।

—भगवद्गीता 8/14

इस श्लोक में 'अनन्यचेता', 'सततं', 'नित्यशः', 'माम् स्मरति' आदि शब्दों में सारे गुर आ जाते हैं । इस अर्थ में तुलसी की भक्ति श्रुति-सम्मत है ।

तुलसी ने अपनी भक्ति को चातक-भक्ति बताया है । चातक को पानी चाहिए, पर सिर्फ स्वाति नक्षत्र का ही । और वह भी सीधे आकाश से, भूमि पर पड़ा हुआ नहीं । प्यासा पड़ा रहना उसे स्वीकार है, अन्य पानी नहीं पीयेगा । इसी संकल्प से एकनिष्ठ पति, एकनिष्ठ पत्नी, एकनिष्ठ भाई, एकनिष्ठ स्वामी, और एकनिष्ठ सेवक की मूर्तियां प्रकट

हुए हैं।

एक भरोसो एक बल
एक आस बिस्वास ।
एक राम घनस्याम हित
चातक तुलसीदास ।।

पर तुलसी की विशेषता इस भक्ति-सुरसरि को भगीरथी की तरह संस्कृत के आकाश से पृथ्वी के शुष्क मैदान सदृश लोक-हृदय में समझ-युक्त तर्कों में प्रवाहित करना है। आकाश में रहने वाली पतितपावनी मंदाकिनी को अगर वहीं रहना है, तो पृथ्वी के प्यासे प्राणियों के लिए उसकी क्या महिमा ?

महान विचारक बर्ट्रेण्ड रसेल ने एक स्थान पर कहा था कि 'कर्मों के निर्णय बुद्धि से होते हैं, पर उनका वेग हृदय में ही प्रकट होता है।' यह समझना और फिर हृदय सागर को उछालना तब तक संभव नहीं हो सकता, जब तक कि सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान लोकभाषा में न उतारा जाए। लोक-कल्याण को, रामराज्य की, लोकराज्य की यही प्राथमिक शर्त है। मनुष्य अपनी भाषा से ही समझता है और अपनी भाषा से ही घायल होता है। अंग्रेजी की महिमा गाने वालों या उनके आश्रय में लोकराज्य के स्वर्ग में पहुंचने वालों की पटरी तुलसी से शायद ही बैठेगी। वे तो

सरल कवित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान ।
सहज बयर बिसराई रिपु जो सुनि करहिं बखान ।।

समझदार व्यक्ति तो सरल कविता का ही सम्मान करेगा। जी हां, कविता का ही आदर होता है। पर वह कठिन ही हो, यह किसने कहा है ? अगर वह कठिन या दुरूह होगी तो अनगिनत जड़ जीवों की सुषुप्त चेतना का स्पर्श कौन करेगा ? गोस्वामीजी को सरल कविता में इतना विश्वास है कि वे कह उठते हैं : 'इस कविता के प्रभाव से शत्रु भी शत्रुता भूल कर कविता का वर्णन करने लग जाएगा।' यह प्रतीति हो जाने पर लोगों में सर्वत्र दन्त्य 'स' ही मिलेगा, तालव्य या मूर्धण्य श, ष शायद ही देखने को मिले !

लोक भाषा में अपभ्रंश, प्राकृत, फारसी, अरबी शब्द भी प्रविष्ट हो चुके हैं। चलने वाले सिक्कों की तरह अगर वे प्रचलन में आ गए हों तो उन्हें रखा जाए।

'साहिब शील निधान' कहने में श्रुति-सम्मति की मांग करने वाले संस्कृत के पंडित तुलसी को कोई खटका नहीं होता। अगर कोई दूसरा साधारण कवि संस्कृत का आश्रय छोड़ कर लोक भाषा में उतरा होता तो वह काव्य-रचना नहीं कर सकता था! कविता तो कवि के हृदय में है अतः उसे लोक भाषा की मर्यादा बाधा नहीं डालती। एक बार तो जो संस्कृत को भी भुला दे, ऐसी रचना हुई है।

प्रारंभ के चार संस्कृत श्लोकों में वाणी-विनायकौ, भवानीशंकरौ, कवीश्वर कपीश्वरौ, सीताराम गुणग्राम को अर्घ्य देने के बाद तुलसी तत्काल बुलंद स्वर में गाने लगते हैं :

जो सुमिरत सिधि होइ, गणनायक करिबर बदन।
करउ अनुग्रह सोई, बुद्धि रासि सुभ गुन सदन॥

संस्कृत में तो वे 'वंदे विनायकौ' कह कर रुक गए हैं, पर यहां तो गणनायक की मूर्ति और उनकी कृपा का फल जिस लोकहृदय में प्रतिष्ठित है, उसे शब्दबद्ध किया है।

करिवर वदन, सुभगुण सदन का अनुप्रास यहां मुखर होता है। इसके पश्चात् संस्कृत के प्रसिद्ध श्लोक 'मूकं करोति वाचालं' को वे लोकवाणी में कितनी सुन्दरता से स्थापित करते हैं :

मूक होई वाचाल पंगु चढहिं गिरिवर गहन।

मूल में 'पंगुं लंघयते गिरिं' है, लेकिन गोस्वामी जी को मात्र 'गिरिम्' शब्द से संतोष नहीं। अरे, हरि कृपा से तो गहन गिरिवर भी पार किये जा सकते हैं, मात्र गिरि ही नहीं। और तब

जासु कृपा सो दयाल, द्रवऊं सकल कलिमल दहन॥

मूल श्लोक में 'यत्कृपातमहं वंदे परमानंद माधवम्' है। यहां तो कवि की मूल प्रतिज्ञा ही कलि को हटाने की है। भगवान के अवतार का यही मुख्य प्रयोजन है। इसलिए सकल कलिमल दहन द्रवउं की पदावली स्वरित हो उठी। आगे का कवि भी 'धन्य' बोल उठा होगा।

संत-असंत दोनों को वंदना करते समय तो गोस्वामी जी का हृदय-रस छलछला आता है। साधु-संतों का चरित्र निम्न रूप में वर्णित हुआ है, जिन्हें तुलसी बार-बार प्रणाम करते हैं :

साधु चरित सुभ सरिस कपासू।
निरस बिसद गुनमय फल जासू॥

जे सहि दुख पर छिद्र दुरावा ।
वंदनीय जेहि जग जस पावा ।।

साधु का जीवन शुभ व सरस है, पर उसका फल नीरस है। फल में उसे रुचि नहीं है। रुचि है तो मात्र 'परछिद्र दुरावा' में, यानी दूसरों की तकलीफें दूर करना।

ऐसे साधु तो तीर्थों के भी तीर्थ होते हैं। क्योंकि तीर्थ जायें तो फल मिले। साधु तो जंगम तीर्थ होते हैं। सामने से आते हैं। वे 'समान चित्त' होते हैं। समान-चित्त की बात को स्पष्ट करने के लिए, देखिए, तुलसी ने कैसी अद्‌भुत उपमा दी है :

बंदउं संत समान चित, हित अनहित नहीं कोई ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर होई ।।

मुट्ठी में रखे हुए फूल जिस तरह दाहिने-बायें दोनों हाथों को सुगन्धित कर देते हैं, उसी तरह अस्वच्छ समझे जाने वाले बायें हाथ को भी वे दाहिने हाथ के जितना ही सुवासित कर देते हैं। संतगण किसी तरह का भेदभाव नहीं बरतते।

लेकिन असंतों को नमन क्यों किया जाए ?

असंत भी ईश्वर के ही प्रतिरूप होते हैं, यों मानकर वंदन करने की बात कहने जैसे भोले गोस्वामी जी नहीं हैं। वे साफ कहते हैं कि मैं उन्हें इस वास्ते प्रणाम करता हूं ताकि मेरे इस शुभ-कार्य में वे काली बिल्ली की तरह अपशकुन न पैदा करें। वे उन्हें नमन करते हैं, पर उन्हें विश्वास नहीं है क्योंकि दुष्ट जनों का स्वभाव ही दूसरों के काम में व्यवधान डालना होता है। किसी की भलाई वे देख तक नहीं सकते।

पर हित हानि लाभ जिन केरे ।
उजरें हरष विसाद घनेरे ।।

याने किसी की क्षति होते देख कर वे नाचने लगते हैं और किसी का घर बनता देखकर जलभुन जाते हैं। 'उजरे हरष विसाद घनेरे' जैसी अर्थपूर्ण उक्तियां देव-भाषा तक में कितनी होंगी ?

और फिर तो सज्जन-दुर्जन के भेद को किसी महाकवि की भांति वे कहने लगते हैं :

बंदऊं संत असज्जन चरना ।
दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ।।

बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं ।
मिलत एक दारुन दुख देहीं।।

चमत्कारपूर्ण व्यंग्य से कवि दोनों के बीच एक प्रकाशोज्ज्वल रेखा खींच देते हैं ।

भैया ! इन दोनों को इसलिए प्रणाम करता हूं क्योंकि दोनों एक-सी पीड़ा देते हैं । फकत दुख देने की प्रणाली में अन्तर है । जब हम एक से बिछुड़ते हैं तो वह ऐसा विकट दुख देता है कि जान ही निकल जाए, और दूसरा व्यक्ति मिलने के साथ ही इतनी ही दारुण पीड़ा देता है । इस प्रकार गोस्वामी जी मानस के आरम्भ में ही वर्षा के लिए तत्पर मेघ-घटा आच्छादित कर देते हैं । श्रोतागण तो चातक की तरह उम्मीदें लगाये बैठे हैं कि अब ये चारों ओर के वातावरण को धोकर स्वच्छ कर देंगे ।

अनन्य कवि-प्रतिभा के ऐसे उन्मेष मानस में स्थान-स्थान पर देखने को मिल जाते हैं । एकाध प्रसंगों पर दृष्टिपात करें :

सीता का पता लगा कर हनुमान लौटे हैं और भगवान को सीताजी की निशानी भेंट करते हैं । उस निशानी को राम अपने हृदय से लगा लेते हैं । सीता के विरह में उनकी कष्ट पूर्ण स्मृति में उनके नेत्र जल से छलछला आए हैं । हनुमान जी उनसे सीता जी का संदेश कहते हैं :

अवगुन एक मोर मैं माना ।
बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना ।।
नाथ सो नयनन्हि को अपराधा ।
निसरत प्रान करहिं हठि बाधा ।।
विरह अगिनि तनु तूल समीरा ।
श्वास जरई छन माहिं सरीरा ।।
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी ।
जरैं न पाव देह बिरहागी ।।

'हा ! प्राणनाथ ! ! मेरा एक दोष तो यही है कि आपसे विछोह होते ही मेरे प्राण निकल क्यों न गए ? पर नाथ ! इसमें मेरा अपराध नहीं । दोष मेरे नेत्रों का है कि उन्होंने जाते हुए प्राणों को रोक रखा है । विरह तो अग्नि के जैसा है और शरीर रुई जैसा । श्वास हवा देने का काम कर रहा है । इस तरह अग्नि और पवन का संयोग होते ही

रुई के ढेर की तरह यह शरीर पल भर में जल कर भस्म हो सकता है। पर नेत्रों को आपके दर्शन करने हैं, इसलिए वे इस विरहाग्नि पर अश्रुजल बहा रहे हैं। इस तरह जलने पर भी मेरा शरीर जल नहीं पाता।'

संसार में अनेक महिमामयी नारियां हुई हैं। कारागार में, कष्टों की चिताओं पर, दारुण दशानन के शोकवन में अनेक नारियां प्रियतम का स्मरण करती हुई खाख हो चुकी हैं। पर ऐसा करुणा-प्लावित, व्यंजनापूर्ण संदेश शायद ही किसी नारी ने अपने पति के पास कहलवाया होगा!

ऐसे महाकवि को शत-शत प्रणाम करता हूं।

□

# रामायण दर्शन

सन् 1981 में बारडोली के समीप रूवा गांव में श्री लल्लू भाई पटेल ने राम मंदिर के उद्घाटन का समारोह आयोजित किया था। उस अवसर पर श्री मनुभाई पंचोळी 'दर्शक' ने दो उद्वेलनकारी व्याख्यान दिये थे: एक दिन वाल्मीकि रामायण पर, और दूसरे दिन तुलसी के रामचरितमानस पर। श्रोता रूप में मैं वहाँ उपस्थित था, जिसे मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूं। श्री दर्शक जैसे साहित्य और संस्कृति-चिंतक ने रामायण का जो मर्म समझाया, उसका मेरे मानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। उनके व्याख्यान मौखिक थे, पर टेप-रेकार्ड हुए थे। आज वे पुस्तकाकार प्रकाशित हो रहे हैं, जिसका लाभ सम्पूर्ण गुजरात को मिलेगा, यह सोच कर मैं अतीव आनंद अनुभव कर रहा हूँ।

श्री दर्शक ने सर्वप्रथम आदिकवि की रामायण का मर्म समझाते हुए कहा था: 'वाल्मीकि ने तो आरंभ में ही लिख दिया था कि मैं कोई भगवान की कथा कहने नहीं बैठा हूं। मैं तो एक ऐसे आदर्श-पुरुष का चारित्रित वर्णन करने बैठा हूँ, जो नर-श्रेष्ठ है और धर्म-धुरंधर है।...... (रामायण में) दो ही बातें मुख्य हैं। एक तो यही कि यदि इस दुनिया को सुधारना हो तो पहली ईंट कुटुम्ब है....और दूसरी बात यह कि यदि आपको इस देश में बड़ा आदमी बनना है तो इस देश की पिछड़ी जातियों के साथ गहरा मेलजोल स्थापित करना पड़ेगा। ऐसा नहीं करेंगे तो आप छोटे ही बने रहेंगे....देश भी छोटा रहेगा। संस्कृति भी निम्न और संकीर्ण रह जाएगी....और मानव जीवन का प्रयोजन प्रकट नहीं हो पाएगा।(पृष्ठ 42-43)

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था कि सम्पूर्ण रामायण एक विशाल फलक पर चलने वाली गृहकथा है। श्री दर्शक ने टैगोर के इस कथन का अत्यंत विशद और चित्ताकर्षक विवेचन किया है। यंत्र-उद्योग पर आधारित वर्तमान समाज एक प्रकार की बेचैनी की व्यथा अनुभव कर रहा है। प्रश्न है मानवीय सम्बन्धों को कम पोषण मिलने का, जिसके परिणामस्वरूप मन का स्वास्थ्य भी बिगड़ा है और समाज का स्वास्थ्य

भी। अतएव आज की परिस्थिति को लेकर रामायण के मर्म की व्याख्या करते हुए श्री दर्शक कहते हैं :

'कुटुम्ब का अर्थ तो यह है कि सुख-दु:ख को आपस में बाँट लें। कुटुम्ब अर्थात् अलग-अलग उम्र के, अलग-अलग काम-धंधे करते हुए ऐक्य-भाव से सुख-दुख को बाँट लेने वाले लोगों का घटक। सुख-दुख का यह बंटवारा आमदनी के हिसाब से नहीं, अपितु कर्त्तव्य की भावना से होता है। जहां बीमार, बालक अथवा वृद्ध को स्वस्थ एवं युवा सदस्यों की तुलना में अधिक दिया जाए, ऐसी त्याग-भावना में जहां आनन्द अनुभव किया जाता हो, वह कुटुम्ब कहलाता है। कुटुम्ब में सास-ससुर होते हैं, किसी दुखिया भुआ की पुत्री और मौसी की बेटी भी होती है.... ये सब जहां साथ-साथ रह सकें, वह कुटुम्ब है। लेकिन स्वार्थ के मारे जहां लोग साथ-साथ न रह सके, उनके लिए तो यह मात्र लॉज होता है।(पृष्ठ 33)

वर्तमान औद्योगिक समाज में हमारे घर घर नहीं रहे, अपितु बोर्डिंग-लॉजिंग हाउस बनते जा रहे हैं, ऐसे में रामायण की भावना के द्वारा विकसित-पोषित हमारी भारतीय संस्कृति की भावना को व्यक्त करते हुए श्री दर्शक ने कौटुम्बिक प्रेम भावना पुन: जाग्रत करके पोषण प्रदान किया है।

आज हमारा देश प्रादेशिक-संकीर्णताओं और स्वार्थ की वजह से छिन्न-भिन्न हो रहा है, टुकड़ों में बँट रहा है। इन प्रवचनों के द्वारा राम-कथा का मर्म समझाते हुए श्री दर्शक हमारा सही मार्गदर्शन कर रहे हैं। उनके द्वारा किया गया विशद् एवं सुन्दर प्रतिपादन रामकथा के प्रसंगों को दीप्ति प्रदान करता है :

'रामचन्द्रजी की विशेषता यही थी कि निषाद, भील, शबर, वानर, किन्नर आदि जितनी भी जातियां हैं सब की सब यहां हिन्दुस्तान में रहती हैं अत: मुझे इन सब से मेलजोल सुदृढ़ करना है। इससे हमें एक विशाल प्रेमचित्र रचना हैं अर्थात् एक पारिवारिक-कथा निर्मित करनी है। गीध जाति भी इससे अलग नहीं है। जटायु भी राम के लिए बुजुर्ग जैसे हैं। सीता को उनके भरोसे छोड़ कर वन में जाते समय उन्होंने कोई विचार तक नहीं किया था। जटायु ने रावण से भयंकर युद्ध किया और वीरगति पाई।'(पृष्ठ 42)

इस प्रकार राम ने कौमी द्वेष को समूल नष्ट किया तथा एकता स्थापित की। हमारा पारस्परिक वैर भाव मानवीय गौरव को खंडित करता है। श्री दर्शक ने एक प्रसंग में इस ओर इंगित करते हुए कहा है : 'रामायण की कथा एक और दृष्टि से भी विचारणीय है। रामायण ने उन्मत्त-बल के समक्ष स्वस्थ-बल को मुकाबले में रख कर यह बात बताई है कि संसार की रक्षा कैसे की जाए! यह तो हुआ एक पक्ष। इसके साथ ही साथ इस स्वस्थ-बल के अंत:स्वरूप का दर्शन भी कराया है। जब रावण मर गया तब राम ने विभीषण से कहा कि तुम अपने भाई का श्राद्ध करने के लिए जाओ। मैं भी उपस्थित रहूँगा। मरण के साथ ही वैर का भी अंत आ जाता है। यदि हम लोग रामायण का इतना-सा बोध-पाठ ही ग्रहण कर लें, तो निरर्थक रक्त-पात-जनित वैर का अंत ही हो जाए।' (पृष्ठ 36)

दूसरा व्याख्यान था तुलसीकृत रामचरित मानस पर। तुलसी की रामकथा का उद्देश्य वाल्मीकि से भिन्न था। उनके लिए राम सिर्फ नर श्रेष्ठ ही नहीं थे, परमात्मा भी थे। ऐसे राम को केन्द्र में रखते हुए तुलसी ने भक्ति रस से ओतप्रोत कथा का सृजन करके लोक-हृदय को पावन बनाया है। तुलसी के राम सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और ईश्वर हैं। अपने भक्तों के दुखों का निवारण करने के लिए उन्होंने कृपा करके अवतार लिया है। जिस युग में जगजीवन त्रस्त था, राजकीय जुल्मों से विच्छिन्न-प्राय था, पददलित था, उसे तुलसी ने रामचरित मानस की भक्ति-संजीवनी अभिसिंचित करके हिन्दू-धर्म को जीवित रखा है, पोषित-पल्लवित किया है। तुलसी ने कितनी मर्मस्पर्शी बात कही है :

जहां राम तहं काम नहिं
जहां काम नहिं राम।
तुलसी कबहुं न रहत हैं
रवि - रजनी इक ठाम॥

जहां राम आ गए वहां सब तरह की कामनाएं शमित हो गईं। लेकिन जहां कामनाओं का साम्राज्य है वहां राम नहीं आएँगे। हे तुलसी! सूर्य और रात्रि एक-साथ नहीं रह सकेंगे। मुसलमान भक्त कवि अब्दुर्रहीम खानखाना ने भी कहा है :

प्रेम गली अति सांकरी
तामे दोउ ना समाई।

इस प्रकार श्री दर्शक ने रामकथा के अपने व्याख्यानों द्वारा श्रोताओं को तत्त्व दर्शन और सौंदर्य दर्शन का आस्वादन कराया है। उन्होंने इस पुस्तक के माध्यम से हमें अनुपम संस्कार सेवा का मार्ग दर्शाया है। इसके लिए रामकथा के चिंतनशील श्रोता तथा अध्येता श्री दर्शक के ऋणी रहेंगे।


**अमृतलाल याज्ञिक**

11 मधुवन सोसायटी
सरस्वती रोड़ सांताक्रुज (पश्चिम)
बम्बई–400054


30-01-1983
गांधी निर्वाण दिवस

□

# हिम्मतलाल पारीख स्मृति सद्भाव न्यास

### परिचय

गुजराती आप्रवासी श्री हिम्मत भाई ने सन् 1942 में बीकानेर आकर दवा-विक्रेता का काम प्रारम्भ किया था। वे पहले अध्यापक थे। भावनगर में अध्यापन कार्य करते हुए महात्मा गांधी के विचारों से प्रभावित होकर राष्ट्रीय संग्राम में एक सैनिक की भाँति जुड़ने तथा त्रस्त मानवता की सेवा करने का उन्होंने मानस बनाया। कुछ अर्से तक तो उनका कार्य क्षेत्र गुजरात ही रहा, लेकिन बाद में रोगों से ग्रसित मानव समुदाय की इस रूप में मदद करने के लिए वे दवा-विक्रेता बने। गुजरात के संतों, कवियों और विचारकों के संस्कारों से संस्कारित श्री हिम्मत भाई ने बीकानेर आकर स्वयं को सिर्फ दवा-विक्रेता तक ही सीमित नहीं रखा। वे यहाँ के जनजीवन के अधिकाधिक सम्पर्क में आते गए। हरिजन उद्धार, नशाबंदी, स्वास्थ्य एवं शिक्षा संबंधी चेतना के प्रसार के लिए वे सतत् जन सम्पर्क करते रहे, एकाकी प्रयास करते रहे। उनकी सक्रियता अनेक दिशाओं में गतिमान थी।

चार दशकों से भी अधिक समय तक बीकानेर में रहते हुए श्री हिम्मत भाई ने नगर की अनेकानेक सामाजिक, व्यापारिक, व्यावसायिक, शैक्षिक-संस्थाओं में सक्रिय भाग लेकर लोगों की सहूलियतों और सुविधाओं के लिए अनेक कार्य किये। वे यथा नाम तथा गुण थे। अक्षय साहस और ऊर्जा के स्रोत थे। अपने आप में एक संस्था थे। नये-नये विचारों और कार्यक्रमों के योजनाकार और क्रियान्वयनकर्त्ता थे। मानवता उनका इष्ट और आराध्य केन्द्र रहा है।

सन् 1985 में उनके देहांत के बाद उनकी स्मृति को संजोये रखने तथा उनके द्वारा इच्छित जनोपयोगी कार्यों को अबाध जारी रखने की आवश्यकता स्थानीय नागरिकों ने अनुभव की। सौभाग्यवश हिम्मत भाई के पुत्रों और परिवार ने गहरी रुचि लेकर उनकी स्मृति में इस न्यास की स्थापना की है।

### उद्देश्य

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है न्यास का मुख्य प्रयोजन मानवता के मूल्यों को पोषित करना, उन्हें विकसित करना, दुखी मानवों की यथासंभव सहायता करना तथा शिक्षा एवं संस्कृति के विकास में सहयोग देना है।

न्यास के उद्देश्यों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है : 1. दीन-दुखियों की सेवा 2. शैक्षिक विकास, तथा 3. साहित्यिक सांस्कृतिक विकास।

## दीन-दुखियों की सेवा

- जरूरतमंद रोगियों के निमित्त दवाइयां एवं भोजन उपलब्ध कराना।
- अस्पतालों के रोगियों को, विशेष रूप से कैंसर और टी.बी. के रोगियों को मुफ्त भोजन/फल प्रदान करना।
- सार्वजनिक स्थानों पर पेयजल की व्यवस्था करना।
- गरीब एवं जरूरतमंद रोगियों के लिए दातव्य डिस्पेंसरियां, प्रसूतिगृह एवं रोग-निदान-केन्द्र खोलना।
- कुपोषण, महामारी या प्राकृतिक विपदा से ग्रस्त क्षेत्रों में चिकित्सा सहायता पहुँचाना।
- अक्षम, अशक्त, पंगु व्यक्तियों को अपने पारिवारिक जीवन के निर्वहन हेतु छोटा काम-धंधा शुरू कराना अथवा आर्थिक मदद देना।
- समय-पूर्व सेवानिवृत्त फौजियों के पुनर्वास में मदद देना।
- व्यक्तियों एवं संस्थाओं से दवाइयां एवं उपयोगी उपकरण प्राप्त करना अथवा क्रय करना और उन्हें जरूरतमंद व्यक्तियों की मदद के लिए निजी व सार्वजनिक अस्पतालों, स्कूलों, क्लबों एवं अन्य संस्थाओं को (यथा लायन्स क्लब, महावीर विकलांग समिति, ऐथलेटिक्स ऐसोशियेशन आदि) प्रदान करना।

## शैक्षिक विकास

- पढ़ने के सुपात्र विद्यार्थियों हेतु छात्रवृत्ति की व्यवस्था करना।
- गरीब विद्यार्थियों को कम दामों पर किताबें-कापियाँ उपलब्ध कराना।
- स्कूल-कॉलेज के निर्धन विद्यार्थियों और अनाथालयों को मुफ्त पाठ्यपुस्तकें प्रदान करना तथा गरीब नेत्रहीन विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देना।
- दवा-विक्रय व्यवसाय में संलग्न व्यक्तियों को उपयोगी व्यावसायिक ज्ञान प्रदान करना। दवा-विक्रेताओं एवं निर्माताओं के निमित्त शैक्षिक कार्यक्रम एवं पाठ्यक्रम संचालित करना। औषध-विज्ञान महाविद्यालय तथा शैक्षिक संस्थाएं संचालित करना।
- औषध विक्रय व्यवसाय को गति देने के लिए शैक्षिक महत्त्व का साहित्य अथवा पत्रिकाएं प्रकाशित करना।

## सांस्कृतिक विकास

- समाजोपयोगी श्रेष्ठ पठनीय-मननीय साहित्य के मुद्रण-वितरण का दायित्व वहन करना।

- चिकित्सा, औषध विज्ञान तथा साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों के उत्कृष्ट एवं अग्रगण्य विद्वानों के प्रस्तार भाषण आयोजित करना।
- अन्य भाषाओं के साहित्य का हिन्दी अनुवाद करवाकर उसे वितरित करने हेतु निःशुल्क अथवा लागत मूल्य पर प्रकाशित कराने का प्रबंध करना।
- भारतीय भाषाओं के स्थानीय रचनाकारों को उपादेय सृजनात्मक साहित्य के प्रकाशन हेतु आर्थिक सहयोग प्रदान करना।
- सार्वजनिक कल्याण-कार्यों में संलग्न संस्थाओं को एकमुश्त दान अथवा सावधिक आर्थिक योगदान प्रदान करना।
- न्यास के कल्याण कार्यों को अधिक व्यापक बनाने हेतु चेरिटी-शो, मेलों तथा स्मारिका के माध्यम से विज्ञापन लेकर धन एकत्रित करना।

## विनम्र शुरुआत

उपर्युक्त उद्देश्यों की क्रियान्विति की दिशा में काम शुरू हो चुका है। स्थानीय बालक-बालिकाओं में से अनेक जरूरतमंदों को छात्रवृत्ति दी गई है तथा दी जा रही है। टी.बी. के लगभग सौ रोगियों को प्रतिमाह निःशुल्क दवाइयां दी जा रही हैं। बीकानेर, लूणकरणसर, रतनगढ़, चूरू तथा तारानगर के 400 टी.बी. मरीज अब तक स्वास्थ्य लाभ के लिए गोद लिये जा चुके हैं। नगरवासियों को पेयजल उपलब्ध कराने के लिए कोटगेट, के.ई.एम. रोड तथा स्टेशन पर वाटरकूलर लगाये जायेंगे। यह कार्य जनवरी 91 से शुरू हो जाएगा। अन्य उद्देश्यों की क्रियान्विति का काम भी क्रमशः हाथ में लिया जा रहा है। यह एक विनम्र शुरुआत भर है।

देश के यशस्वी, तत्त्वचिंतक महात्मा योगेश्वरजी द्वारा रचित 'चिंतामणि' प्रकाशित करवाकर गत वर्ष निःशुल्क वितरित की ही जा चुकी है। जिज्ञासु पाठकों तक न पहुँची हो तो वे सूचित करें। प्रकाशन के अगले क्रम में इस वर्ष गुजरात के महान उपन्यासकार एवं शिक्षाविद् श्री मनुभाई पंचोळी 'दर्शक' की यह कृति 'रामायण का मर्म' प्रकाशित की जा रही है। श्री दर्शक की 'महाभारत का मर्म' भी प्रकाशित करने की हमारी योजना है। इसके अलावा श्री मकरंद दवे की दार्शनिक निबंधों की कृति 'गर्भदीप' तथा श्रीमती कुंदनिका कापड़िया का उपन्यास 'परोढ़ थतां पहेलां' भी हमारे प्रकाशन-क्रम में विचारार्थ रखे हैं।

अन्य संस्थाओं एवं व्यक्तियों से आर्थिक सहयोग प्राप्त करने हेतु न्यास द्वारा आयकर की धारा 80 जी. के अन्तर्गत करमुक्ति प्रमाण-पत्र प्राप्त करने की कार्य-वाही जारी है, तथापि शुभेच्छुओं से इसी क्षण से आर्थिक सहयोग सादर आमंत्रित है।

□